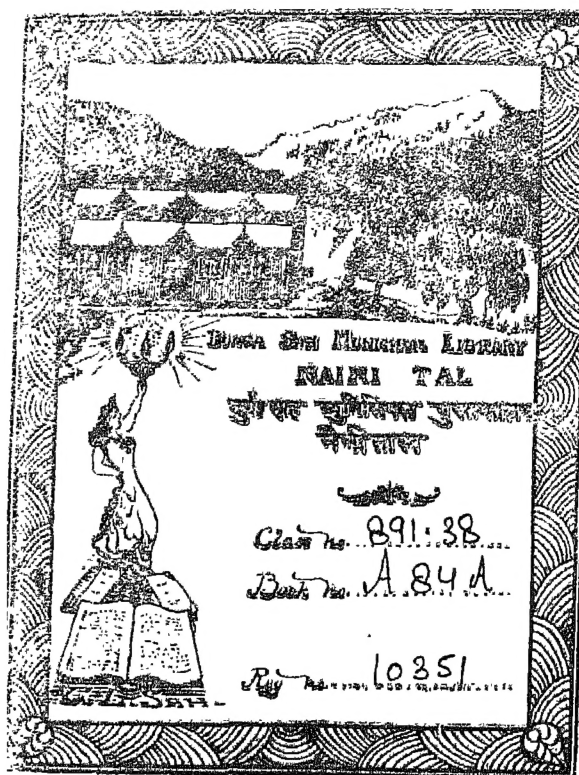

Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL
Class No. 891.38
Book No. A84A
Reg No. 10351



अश्क की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९६०

मूल्य : ढाई रुपया

प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद-१
मुद्रक — प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-१

अनुक्रम



अश्क जी प्रेमचन्द के समय से कहानी लिखना आरम्भ कर, सदा नयी प्रेरणाओं और विचारधाराओं, नवीन-दृष्टिकोण और शिल्प-विधान को अपनाते रहे हैं। गत तीस वर्षों में हिन्दी-कहानी ने जो प्रगति की है, उसके विकास की रेखा अश्क जी की कहानियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

अश्क जी ने हर तरह की कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु प्रस्तुत संग्रह में केवल वे ही कहानियाँ संकलित की जा रही हैं जो सर्वाधिक लोकप्रिय हुई हैं, निरन्तर पाठ्य-पुस्तकों का अंग बनी हैं और जिनके अनुवाद देशीय और विदेशीय भाषाओं में हुए हैं।

कहानी की विकास-रेखा

आज की कहानी पहले की अपेक्षा अधिक जटिल और संश्लिष्ट हो गयी है। उसका उद्देश्य, परिवेश और शिल्प—सब-कुछ बदल गया है।

पहले कहानी से इस बात की अपेक्षा रखी जाती थी कि वह एकदम आरम्भ हो—पहले ही वाक्य से पाठक को बाँध ले—धीरे-धीरे विकसित हो और अंतिम विन्दु पर जाकर ऐसे समाप्त हो जाय कि पाठक के मन को झटका-सा लगे। 'उठो, बोलो और बैठ जाओ।' अच्छे वक्ता की तरह सफल कहानी-लेखक को भी यही उपदेश दिया जाता था। प्रेमचन्द के शब्दों में सफल कहानी से अपेक्षा थी कि वह तीर की तरह सीधी अपने अंतिम विन्दु की ओर जाय, इधर-उधर रंचमात्र न भटके, एक भी पंक्ति उसमें व्यर्थ की न हो और जब वह समाप्त हो तो पाठक के हृदय में एक मीठी-सी टीस, एक मदभरी-सी बेचैनी उत्पन्न कर दे, उसे लगे कि जैसे उसकी कोई प्यारी वस्तु खो गयी है, वह किसी स्वर्गिक घाटी में मार्ग भूल गया है। कहानी यथार्थ हो, यह आवश्यक न था, यथार्थ का भ्रम उत्पन्न कर दे, इतना ही पर्याप्त था—सम्भव हो या न हो, पर सम्भाव्य ज़रूर हो। कहानी जीवन का प्रतिबिम्ब हो, ऐसी अपेक्षा तब उससे नहीं थी, जीवन के लिए हो, उसके लिए आदर्श प्रस्तुत करे, उसका मनोरंजन करे, इतना ही उससे अभीष्ट था।

लेकिन दो महायुद्धों ने संसार-भर को जैसे झकझोर दिया। आज के लेखक ने पूरे-के-पूरे राष्ट्रों को दूसरी जातियों अथवा राष्ट्रों से एक अंधी, क्रूर पाशविकता का व्यवहार करते हुए, एक अमानवीय कठोरता से उन्हें पददलित करते हुए, उनका अस्तित्व तक मिटाते हुए देखा और अजाने ही उसकी पुरानी मान्यताएँ बदल गयीं। ऐसी

पाशविकता, ऐसी क्रूरता तो पहले कहानियों में कहीं नहीं थी। साहित्य में तो क्रूर से क्रूर व्यक्ति के मन में भी ममता को खोज दिखाया जाता था। इस सामूहिक पाशविकता का कारण जानने के लिए समूह की इकाई—व्यक्ति,—उसकी उत्पत्ति और विकास की ओर लेखक की दृष्टि गयी। डार्विन और मार्क्स ने इस काम में उसका पथ-निर्देश किया। एक ने मानव की उत्पत्ति और दूसरे ने उसके क्रिया-कलाप के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं को बदल दिया और मानव के कृत्यों का कारण पशुओं से उसके विकास अथवा उसके विकसित अथवा अविकसित मन की गहराइयों और समाज की ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक यथार्थताओं में खोजा जाने लगा।

इस नयी दृष्टि से पुराने माने हुए सत्य झूठे दिखायी देने लगे। उदाहरण के लिए भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते जितना बहन अपने भाइयों से, हमारे यहाँ यह एक माना हुआ सत्य था, पर युद्ध की विभीषिका, बढ़ती कीमतों और देश के विभाजन के बाद जब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं, आर्थिक रूप से न केवल वे स्वावलम्बिनी हुईं, वरन् माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की पालनकर्ता बनीं, घर में उनकी स्थिति बदल गयी। जाति-पाँति के बन्धन टूटे, विवाह के रस्म-रिवाज बदले और अपने बेरोज़गार भाइयों के प्रति कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा हो गया जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था। पुराने कई सामाजिक सत्य इसी तरह झूठे पड़ गये। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ने घर और उसकी व्यवस्था ही नहीं, मानव को भी बदला। मानव की सद्वृत्तियों ही को देखते रहने के बदले लेखक का ध्यान उसकी ग्रन्थियों, कुप्रवृत्तियों और स्वभाव की विषमताओं की ओर भी गया।

कहानी पर इस सब का प्रभाव न पड़ता, यह कैसे सम्भव था। जब पुरानी कहानियों के आदर्श-पात्र और उनकी स्थितियाँ जीवन

में कहीं दृष्टिगोचर न हुईं तो वैसी कहानियों से वितृष्णा होने लगी। लेखक के साथ-साथ पाठक भी कहानी से मनोरंजन की अपेक्षा कुछ अधिक की माँग करने लगे। तब गढ़े-गढ़ाये काल्पनिक कथानकों का जादू टूटा, कथाकार ने बदलते जीवन के तगादे को मान, पहले निर्वैयक्तिक यथार्थवादी दृष्टि से मानव और समाज को देखा और ऐसी कहानियाँ लिखीं जो जीवन का एक जीता-जागता, उसकी गति से स्पन्दित खण्ड मात्र दिखायी देती थीं, फिर वैयक्तिक दृष्टि से अपने पात्रों के अन्तर में झाँका और अर्ध-चेतन, उपचेतन और अवचेतन तक में गोते लगाकर, मानव की ग्रन्थियों, विकृतियों और कुप्रवृत्तियों से पर्दा उठाया। यही नहीं, उसने उस वैयक्तिकता में भी निःसंग दृष्टि अपनायी और हमारे सामने मानव का यथार्थ रूप आया। जो चाहे कभी चकित, स्तम्भित और दुखी करने वाला हुआ, पर जिससे पाठक को उसे समझने और अपना पथ बनाने में सहायता मिली। और यों कहानी का उद्देश्य जीवन के लिए आदर्श प्रस्तुत करना अथवा उसका निर्देशन या कोरा चित्रण करना न होकर उसकी व्याख्या, उसका विवेचन, उसकी आलोचना और उसका उद्घाटन करना भी हो गया और कहानी ज़िन्दगी ही की तरह संश्लिष्ट से संश्लिष्टतर होती गयी।

दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक-प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उत्पन्न करने वाली गढ़ी-गढ़ाई कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु यथार्थता, जटिलता और संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिये हुए सीधे-सादे स्केच की-सी, निबन्ध की-सी; संस्मरण अथवा यात्रा-विवरण की-सी; एकांकी या सम्वाद की-सी; कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों का गुम्फन-मात्र; वर्णनात्मक; चित्रात्मक; डायरी के पन्नों अथवा पत्रों का रूप लिये हुए; एक ओर लोककथा और दूसरी ओर उपन्यास की हदों को छूती हुई कहानियाँ

लिखी जाने लगीं। पहले कहानियों में उपमाओं का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी, अब उसमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिससे उनकी जटिलता और संश्लिष्टता बढ़ी। लेकिन कहानी के नये शिल्प में प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्रायः बाहर की स्थितियों को समझने में सहायता देती हैं। बिम्ब और प्रतीक मन की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझाने के लिए पैरे और पृष्ठ रँगने की आवश्यकता होती है, वह एक बिम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दिया जाता है।

आज की सफल कहानी केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं कि वह खाली समय को भरने में मदद दे। अच्छी कहानी से अपेक्षा है कि वह पाठक को अपने समाज, वातावरण और स्वयं अपने-आप को समझने में सहायता दे। उत्कृष्ट कहानी के लेखक ही से इस बात की अपेक्षा नहीं कि वह उस पर श्रम करे, पाठक से भी अपेक्षा है कि वह उसे ध्यान से पढ़े, उसकी सहायता से अपने अन्तर और बाह्य की जटिलताओं को समझे और बदलते हुए जीवन में अपना पथ प्रशस्त करे।

१०-१०-६०

—उपेन्द्रनाथ अश्क

डाची

काट[1] 'पी-सिकन्दर' के मुसलमान जाट बाक़र को अपने माल की ओर लालच-भरी निगाहों से तकते देखकर चौधरी नन्दू पेड़ की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज़ में ललकार उठा, "रे-रे अठे के करे है ?"[2] और उसकी छः फ़ुट लम्बी सुगठित देह, जो पेड़ के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गयी और बटन टूटे होने के कारण, मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल सीना और मज़बूत बाहें दिखायी देनी लगीं।

बाक़र कुछ निकट आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी नुकीली दाढ़ी और शरअई मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में पल-भर के लिए चमक पैदा हुई और ज़रा मुस्कराकर उसने कहा, "डाची[3] देख रहा था चौधरी, कैसी ख़ूबसूरत और जवान है, देखकर आँखों की भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी नन्दू का तनाव कुछ कम हुआ, प्रसन्न होकर बोला, "किसी साँड ?"[4]

"वह, परली तरफ़ से चौथी।" बाक़र ने संकेत करते हुए कहा।

ओकाँह[5] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बँधे थे, उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी सुन्दर और सुडौल गर्दन बढ़ाये घने पत्तों में मुँह मार रही थी। माल-मंडी में दूर, जहाँ तक नज़र जाती थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नागौरी सींगों वाले

१—काट = दस-बीस सिरकियों के ख़ैमों का छोटा-सा गाँव।

२—अरे तू यहाँ क्या कर रहा है ?

३—डाची = साँडनी। ४—कौन-सी डाची ? ५—एक वृक्ष-विशेष।

बैलों और गायों के सिवा कुछ दिखायी न देता था। गधे भी थे, पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावलनगर के मरुस्थल में होने वाली माल-मंडी में उनका आधिक्य था भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जानवर है। इस रेतीले इलाके में आमद-रफ़्त, खेती-बाड़ी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गायें दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था और अब भी जब इस इलाके में नहर आ गयी है, पानी की इतनी क़िल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँटों के दाम दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक लग जाते हैं और बाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाक़र ने कहा, "सच कहता हूँ, चौधरी, इस जैसी सुन्दर साँडनी मुझे सारी मंडी में दिखायी नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगुना हो गया, बोला, "आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी निरिया करूँ।"[१]

धीरे से बाक़र ने पूछा, "बेचोगे इसे?"

नन्दू ने कहा, "इठई बेचने लई तो लाया हूँ।"

"तो फिर बताओ, कितने को दोगे?"

नन्दू ने नख से शिख तक बाक़र पर एक दृष्टि डाली और हँसते हुए बोला, "तन्ने चाही जै का तेरे धनी वेई मोल लेसी?"[२]

"मुझे चाहिए।" बाक़र ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मज़दूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर साँडनी मोल ले। बोला, "तूँ की लेसी?"

बाक़र की जेब में पड़े हुए डेढ़-सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने के लिए

१—यह एक ही क्या, वह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूँसी (जवार और मोठ) देता हूँ।

२—तुझे चाहिए या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है?

व्यग्र हो उठे। तनिक जोश के साथ उसने कहा, "तुम्हें इससे क्या, कोई ले, तुम्हें तो अपनी कीमत से गरज़ है, तुम दाम बताओ ?"

नन्दू ने उसके घिसे-फटे कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे बाबा आदम के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने के विचार से कहा, "जा-जा, तू इशी-विशी ले आयी, इंगो मोल तो आठ बीसी सूं घाठ के नहीं।"[1]

पल-भर के लिए बाक़र के थके हुए, व्यथित चेहरे पर उल्लास की रेखा झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मोल न बता दे, जो उसकी बिसात से ही बाहर हो, पर जब अपनी ज़बान से ही उसने १६०) बताये तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। १५०) तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। मोल-तोल तो उसे करना आता न था। झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिये। बोला, "गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्ज़ी।"

नन्दू ने अनमने भाव से नोट गिनने शुरू किये, पर गिनती ख़त्म करते न करते उसकी आँखें चमक उठीं। उसने तो बाक़र को टालने के लिए ही मोल १६०) बता दिया था, नहीं मंडी में अच्छी-से-अच्छी डाची डेढ़ सौ में मिल जाती और इसके तो १४०) पाने का भी उसे ख़याल न था। पर शीघ्र ही मन के भावों को छिपाकर और जैसे बाक़र पर अहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला, "साँड तो मेरी दो सै की है, पण जा, सगी मोल मियाँ तन्ने दस छाँडिया।"[2] और यह कहते-कहते उठकर उसने साँडनी की रस्सी बाक़र के हाथ में दे दी।

क्षण-भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह साँडनी उसके

१—जा, जा, तू कोई ऐसी-वैसी ख़रीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं।

२—साँडनी तो मेरी २००) की है; पर जा सारी क़ीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये।

यहाँ ही पैदा हुई और पली थी। आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी ही दशा हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय माँ-बाप की होती है। ज़रा काँपती आवाज़ में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए, उसने कहा, "आ साँड सोरी रहेड़ी है, तूँ इन्हें रेहड़ ही में न गेर दईं।"[1] ऐसे ही, जैसे ससुर दामाद से कह रहा हो, 'मेरी लड़की लाड़ों पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।'

उल्लास के पंखों पर उड़ते हुए बाक़र ने कहा, "तुम ज़रा भी चिन्ता न करो, मैं इसे अपनी जान के साथ रखूँगा।"

नन्दू ने नोट अंटी में सम्हालते हुए, जैसे सूखे हुए गले को ज़रा तर करने के लिए, घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा। मंडी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मंडियों में भी—जहाँ बीसियों अस्थायी नल लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती, फिर रेगिस्तान की मंडी पर तो धूल ही का साम्राज्य था। गन्ने वाले की गँडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचे वाले के दही-बड़े पर, सब जगह धूल का राज था। घड़े का पानी टाँचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहाँ आते-आते वह कीचड़-जैसा गँदला हो गया था। नन्दू का ख़याल था कि निथरने पर पियेगा, पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूँट में प्याले को ख़त्म करके नन्दू ने बाक़र से भी पानी पीने के लिए कहा। बाक़र आया था तो उसे गज़ब की प्यास लगी हुई थी, पर अब उसे पानी पीने की फ़ुर्सत कहाँ? वह रात होने से पहले-पहले गाँव पहुँच जाना चाहता था। डाची की रस्सी पकड़े वह धूल को चीरता हुआ-सा चल पड़ा।

बाक़र के दिल में बहुत दिनों से एक सुन्दर और युवा डाची ख़रीदने की लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पुरखे कुम्हारों का काम करते थे,

---

१—यह साँडनी अच्छी तरह रखी गयी है, तू इसे योंही मिट्टी में न मिला देना।

किन्तु उसके पिता ने अपना पैत्रिक काम छोड़कर मज़दूरी करना शुरू कर दिया था। उसके बाद बाक़र भी इसी से अपना और अपने छोटे-से कुटुम्ब का पेट पालता आ रहा था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी। काम से उसने सदैव जी चुराया था। चुराता भी क्यों न, जब उसकी बीवी उससे दुगुना काम करके उसके भार को बँटाने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा न था—एक वह, एक उसकी पत्नी और एक नन्हीं-सी बच्ची। फिर किस लिए वह जी हलकान करता? पर क्रूर और 'बेपीर' विधाता—उसने उस सुख की नींद से जगाकर उसे अपनी ज़िम्मेदारी समझने पर विवश कर दिया। उसे बता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, आराम ही नहीं, दुख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम देने वाली प्यारी बीवी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गयी थी। मरते समय, अपनी सारी करुणा को अपनी पथरायी आँखों में बटोरकर उसने बाक़र से कहा था, "मेरी रज़िया अब तुम्हारे हवाले है, इसे तकलीफ़ न होने देना!" इसी एक वाक्य ने बाक़र की ज़िन्दगी के धारे को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था।

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्हीं-सी गुड़िया को, तरह-तरह की चीज़ें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी वह मंडी से लौटता, नन्हीं-सी रज़िया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती, "अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रज़िया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई तो एक दिन मचल-कर अपने अब्बा से कहने लगी, "अब्बा, हम तो डाची लेंगे! अब्बा, हमें डाची

ले दो !" भोली-भाली, निरीह बालिका ! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न साधन-हीन ग़रीब मज़दूर की बेटी है, जिसके लिए डाची ख़रीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी अपराध है। रूखी हँसी हँसकर बाक़र ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला, "रज्जो, तू तो ख़ुद डाची है।" पर रज़िया न मानी। उस दिन मशीर-माल अपनी साँडनी पर चढ़कर, अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बैठाये दो-चार मज़दूर लेने के लिए अपनी इसी काट में आये थे। तभी रज़िया के नन्हें-से मन में डाची पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी और उसी दिन से बाक़र की रही-सही सुस्ती भी दूर हो गयी थी।

उसने रज़िया को टाल तो दिया था, पर मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह अवश्य रज़िया के लिए एक सुन्दर-सी डाची मोल लेगा। उसी इलाके में, जहाँ उसकी आय की औसत साल भर में तीन आने रोज़ाना भी न होती थी, अब आठ-दस आने हो गयी। दूर-दूर के गाँवों में अब वह मज़दूरी करता। कटाई के दिनों में वह दिन-रात काम करता—फ़सल काटता; दाने निकालता; खलिहानों में अनाज भरता; नीरा डालकर भूसे के कुप बनाता ! बिजाई के दिनों में हल चलाता; क्यारियाँ बनाता; बिजाई करता। उन दिनों उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोज़ाना तक मज़दूरी मिल जाती। जब कोई काम न होता तो प्रातः उठकर, आठ कोस की मंज़िल मारकर मंडी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मज़दूरी करके ही घर लौटता। उन दिनों वह रोज़ छः आने बचाता आ रहा था। इस नियम में उसने किसी तरह की ढील न होने दी थी। उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। बहन कहती, "बाक़र, अब तो तुम बिलकुल ही बदल गये हो, पहले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़ मेहनत न की थी।"

बाक़र हँसता और कहता, "तुम चाहती हो, मैं उमर-भर निठल्ला बना रहूँ ?"

बहन कहती, "निठल्ला बनने को तो मैं नहीं कहती, पर सेहत गँवाकर रुपया जमा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाक़र के समाने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच

जाता, उसकी आख़िरी इच्छा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रज़िया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुस्कराकर फिर अपने काम में लग जाता। और आज—डेढ़ वर्ष के कड़े परिश्रम के बाद, वह अपनी चिर-संचित अभिलाषा पूरी कर सका था। उसके हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था।

साँझ की वेला थी। पच्छिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। हवा में ठण्डक आ गयी थी और कहीं दूर खेतों में टिटिहरी टीहूँ-टीहूँ करती उड़ रही थी। बाक़र के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी-कभी कोई किसान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के बैलगाड़ी में रखे हुए घास-पट्ठे के गट्ठों पर बैठे, बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते या बैलगाड़ी के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले आने वाले ऊँटों की थूथनियों से खेलते चले जाते थे।

बाक़र ने, जैसे स्वप्न से जागते हुए, पच्छिम की ओर अस्त होते सूरज की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नज़र दौड़ायी। उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली साँडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेज़ी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रज़िया सो न जाय, इसी विचार से।

मशीर-माल की काट नज़र आने लगी। यहाँ से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाक़र की चाल धीमी हो गयी और इसके साथ ही कल्पना की देवी अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तस्वीरें बनाने लगी—बाक़र ने देखा, उसके घर पहुँचते ही नन्हीं रज़िया खुशी से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गयी है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गयी हैं! फिर उसने देखा, वह रज़िया को आगे बैठाये सरकारी खाले (नहर) के किनारे-

किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक़्त है, ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही है और कभी-कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-बड़े पंख फैलाये अपनी मोटी आवाज़ से दो-एक बार काँव-काँव करके ऊपर से उड़ता चला जाता है। रज़िया की खुशी का वारपार नहीं। वह जैसे हवा में उड़ी जा रही है...फिर उसके सामने आया कि वह रज़िया को लिये बहावलनगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रज़िया मानो भौंचक्की-सी है। हैरान और चकित-सी चारों ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अगनित छकड़ों और दूसरी दसियों चीज़ों को देख रही है। बाक़र खुश-खुश उसे सब की कैफ़ियत दे रहा है। एक दूकान पर ग्रामोफ़ोन बजने लगता है। बाक़र रज़िया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रज़िया के समझ में नहीं आतीं और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कुतूहल और जिज्ञासा है, वह उसकी आँखों से टपकी पड़ती है।

वह अपनी कल्पना में मस्त काट के पास से गुज़रा जा रहा था कि सहसा कुछ विचार आ जाने से रुका और काट में दाख़िल हुआ।

मशीर-माल की काट भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज़्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाक़े में अभी नहीं। खुद बाक़र की काट में पन्द्रह घर थे, घर क्या झुंगियाँ थीं, सिरकियों के ख़ैमे—जिन्हें झोंपड़ियों का नाम भी न दिया जा सकता था। मशीर-माल की काट भी ऐसी ही बीस-पच्चीस झुंगियों की बस्ती थी, केवल मशीर-माल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था, पर छत उस पर भी छप्पर की ही थी। बाक़र नानक बढ़ई की झुंगी के सामने रुका। मंडी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा (काठी) बनने के लिए दे गया था। उसे ख़याल आया कि यदि रज़िया ने साँडनी पर चढ़ने की ज़िद की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा, इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो-एक आवाज़ें दीं। अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, "घर में नहीं हैं, मंडी गये हैं।"

बाक़र का दिल बैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका। नानक यदि

मंडी गया है तो गदरा क्या ख़ाक बनाकर गया होगा ! फिर उसने सोचा शायद बनाकर रख गया हो । इस ख़याल से उसे कुछ तसल्ली मिली । उसने फिर पूछा, "मैं साँडनी की काठी बनाने के लिए दे गया था, वह बनी या नहीं ?"

जवाब मिला, "हमें मालूम नहीं !"

बाक़र की आधी ख़ुशी जाती रही । बिना गदरे के वह डाची को क्या ले जाय । नानक होता और उसका गदरा न भी बना होता, तो वह कोई दूसरा ही उससे माँगकर ले जाता । यह विचार आते ही उसने सोचा, 'चलो मशीर-माल से माँग लें । उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुरानी काठी होगी ही । अभी उसी से काम चला लेंगे । तब तक नानक नया गदरा तैयार कर देगा ।' यह सोचकर वह मशीर-माल के घर की ओर चल पड़ा ।

अपनी मुलाज़मत के दिनों में मशीर-माल साहब ने पर्याप्त धन इकट्ठा किया था । जब इधर नहर निकली तो उन्होंने अपने पद और प्रभाव के बल पर रियासत में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे ज़मीन ले ली थी । अब नौकरी से अवकाश ग्रहण कर यहीं आ रहे थे । राहक[1] रखे हुए थे, आय ख़ूब थी और मज़े से ज़िन्दगी बसर हो रही थी । अपनी चौपाल में एक तख़्त पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर सफ़ेद साफ़ा, गले में सफ़ेद क़मीज़, उस पर सफ़ेद जाकेट और कमर में दूध-जैसे रंग का तहमद । गर्द से अटे हुए बाक़र को साँडनी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा, "कहो बाक़र, किधर से आ रहे हो ?"

बाक़र ने झुककर सलाम करते हुए कहा, "मंडी से आ रहा हूँ, मालिक ।"

"यह डाची किसकी है ?"

"मेरी ही है मालिक, अभी मंडी से ला रहा हूँ ।"

"कितने को लाये हो ?"

बाक़र ने चाहा, कह दे, आठ-बीसी को लाया हूँ । उसके ख़याल में ऐसी सुन्दर डाची २००) में भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला, "हजूर, माँगता

१—मुज़ारे ।

तो १६०) था, पर डेढ़ सौ में ले आया हूँ।"

मशीर-माल ने एक नज़र डाची पर डाली। वे स्वयं अर्से से एक सुन्दर-सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे। उनके डाची तो थी, पर पिछले वर्ष उसे सीमक[1] हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में जँच गयी।—क्या सुन्दर और सुडौल अंग हैं; क्या सफ़ेदी-मायल भूरा-भूरा रंग है; क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है! बोले, "चलो, हमसे आठ बीसी ले लो, हमें एक डाची की ज़रूरत है, दस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाक़र ने फीकी हँसी के साथ कहा, "हज़ूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ!"

मशीर-माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे थे—वाह! क्या असील जानवर है। प्रकट बोले, "चलो पाँच और ले लेना!"

और उन्होंने आवाज़ दी, "नूरे, अरे ओ नूरे!"

नौकर भैंसों के लिए पट्ठे काट रहा था, गँड़ासा हाथ ही में लिये भाग आया। मशीर-माल ने कहा, "यह डाची ले जाकर बाँध दो! १६५) में, कहो कैसी है?"

नूरे ने हतबुद्धि-से खड़े बाक़र के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नज़र डाची पर डालकर बोला, "ख़ूब जानवर है!" और यह कहकर नौहरे[2] की ओर चल पड़ा।

तब मशीर-माल ने अटी से ६०) रुपये के नोट निकालकर बाक़र के हाथ में देते हुए मुस्कराकर कहा, "अभी एक गाहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे। अभी यह रखो, बाक़ी भी एक-दो महीने में पहुँचा दूँगा। हो सकता है, तुम्हारी किस्मत से पहले ही आ जायँ।" और बिना कोई जवाब सुने

१—ऊँटों की एक बीमारी।

२—भूसा आदि रखने का स्थान।

वे नौहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा काटने लगा था। दूर ही से आवाज़ देकर उन्होंने कहा, "भैंस का चारा रहने दे, पहले डाची के लिए गवारे का नीरा कर डाल, भूखी मालूम होती है।"

और पास जाकर साँडनी की गर्दन सहलाने लगे।

कृष्ण पक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कुहासा छा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओकाँह के वृक्ष बड़े-बड़े काले सियाह धब्बे बन रहे थे। फोग की एक झाड़ी की ओट में अपनी काट के बाहर बाक़र बैठा उस क्षीण प्रकाश को देख रहा था जो सरकडों से छन-छनकर उसके आँगन से आ रहा था। जानता था रज़िया जागती होगी, उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इस इन्तज़ार में था कि दिया बुझ जाय, रज़िया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाख़िल हो।

●

गोखरू

फिटकिरी, शोरे और नमक के पानी में धुले, कमरे के अँधेरे में जगमगाते, पीले, सुनहरे गोखरू देखते-देखते मलावी की आँखों में आँसू भर आये। निमिषमात्र के लिए उसके सामने एक चित्र घूम गया—उसका अपना ही चित्र—उन दिनों का, जब जीवन में सब कुछ अच्छा लगता था। भाई से लड़ाई-झगड़ा, पिता का क्रोध से झुँझलाकर गालियाँ देना और खीजकर माँ को पीट बैठना—सब कुछ भला मालूम होता था। वसन्त की अपेक्षाकृत लम्बी दुपहरी, जब अपनी स्निग्ध, सुनहरी धूप से सपनों का संसार बसा देती थी और अपने बड़े खुले आँगन में त्रिंजन[1] के गीत गाते-गाते वह किसी ऐसे ही सपनों की दुनिया में खो जाती थी।

एक लम्बी साँस छोड़कर मलावी ने अपनी आँखों को मल डाला। यौवन के स्वर्ण-प्रभात की अपनी आकृति देखते-देखते वर्तमान के कंकाल का ध्यान आ जाने से उसकी आँखें भर आयीं। गोखरू उसने फिर डिब्बे में रख दिये; पर डिब्बे को वह बन्द न कर सकी। क्षणिक आवेश के वश एक गोखरू उठाकर उसने अपनी कलाई में डालना चाहा; पर वह सख्त था—१६ तोले सोने के भारी गोखरू—उसके हाथों की हड्डियाँ जैसे अब उसके लिए दीवारें बन गयी थीं। चुपचाप उसने फिर उसे डिब्बे में रख दिया और कुछ क्षण मन्त्र-मुग्ध-सी वह उन दो सुन्दर गोखरुओं को देखती रही। एक दिन वे उसकी सोने-ऐसी कलाइयों पर खूब सुन्दर लगे थे। तब उसके अंग भरे हुए

१—स्त्रियाँ जब इकट्ठी बैठकर चरखा कातती हैं तो पञ्जाब में उसे त्रिंजन कहते हैं।

थे, हड्डियों के स्थान पर मांसल भुजाएँ थीं और गालों के गढ़ों में गुलाब हँसा करते थे।

बाहर छोटी छोटी लड़कियाँ ढोलक पर 'माहिया'[1] गा रही थीं। उसकी आँखों के सामने घूम गया, किस तरह उसके कमरे में भी एक दिन ढोलक रख दी गयी थी, और फिर किस तरह चाँदनी रातों में उनके चौड़े विशाल आँगन में, जामुन के वृक्ष की छिदरी छाया के नीचे गाँव भर की नव-युवतियाँ और नववधुएँ इकट्ठी हुई थीं, और किस तरह उन्होंने 'माही,' 'राँझा,' 'पुन्नू'[2] के गीत गाये थे और किस तरह गाँव की बड़ी-बूढ़ियाँ भी उनके द्वारा अतीत में पहुँचकर उनके स्वर-में-स्वर मिला देती थीं।

फिर एक दिन तेल, हल्दी और केशर से मिले हुए बेसन के उबटन से मल-मलकर उसे नहलाया गया था और जब उसकी देह कुन्दन-सी दमक उठी थी, तब विवाह का लाल जोड़ा उसे पहनाया गया था। उसकी कलाइयों में मंगल-सूत्र के तार में पिरोये हुए कलीरे बाँधे गये थे और तब माँ ने उसे गहने पहनाये थे। उन्हीं में से ये भारी गोखरू भी थे।

मलावी ने आँखें गोखरुओं से हटा लीं। कमरे की दायीं दीवार के साथ ज़रा और अँधेरे में ट्रंकों पर एक पुराना लकड़ी का लाल डिब्बा उपेक्षित-सा पड़ा था। रंग उसका कई जगह से उतर गया था और उस पर गर्द की गहरी तह चढ़ गयी थी। मलावी की दृष्टि उसी पुराने डिब्बे पर जा पड़ी, फिर उसने अपने शरीर पर निगाह डाली और उसके हृदय से एक दीर्घ निःश्वास निकल गया। तभी एक असह्य ईर्ष्या के बस होकर उसने एक गोखरू उठाया, दोनों हाथों में लेकर और तनिक खुला करके उसे पहन लिया। उसकी हड्डी-ऐसी कलाई पर वह कोहनी तक चला गया। तब दूसरा उसने दूसरी कलाई में डाल लिया। वह भी कोहनी तक चला गया, किन्तु उसे दुख नहीं हुआ। इस अपने चिर-परिचित गहने को सदैव के लिए अलग करते समय एक बार

१—पञ्जाब का प्रसिद्ध गीत।
२—पञ्जाब के अमर प्रेमी।

पहनकर वह कृतकृत्य हुई। तभी दरवाज़ा खुला और विवाह के लाल जोड़े में आवृत, यौवन, उल्लास तथा प्रसन्नता की तस्वीर बनी उसकी लड़की मंसा कमरे में दाख़िल हुई—मलावी ने दोनों हाथ दुपट्टे के आँचल से छिपा लिये। उसका चेहरा पीला पड़ गया, पर कमरे के अँधेरे में उसकी लड़की ने इस परिवर्तन को नहीं देखा और अपनी मीठी, सुरीली आवाज़ में इतना ही कहा, "बाबू जी बुला रहे हैं!"

"चल मैं आयी।"—हकलाते हुए मलावी ने कहा।

लड़की चली गयी। मलावी ने उसे जाते हुए देखा—उसके यौवन-प्रभात का दमकता हुआ चित्र! एक दीर्घ निश्वास को निकल पड़ने से बरबस रोककर उसने गोखरू उतारे और उन्हें उनके उस नये डिब्बे में रख दिया, जिसकी मख़मल का रंग गहरा लाल था और जिसकी पीतल की कुण्डी भी सुनहरी दिखायी देती थी और अँधेरे में ट्रंकों पर उपेक्षित-से पड़े उस पुराने डिब्बे की ओर जान-बूझकर देखे बिना मलावी नये डिब्बे को लिये हुए कमरे से निकल आयी।

दरवाज़े पर शहनाई अपने तीखे, हृदय को भेद देने वाले स्वर में कोई जुदाई का गीत गा रही थी। घर के बाहर भंगियों तथा भंगिनों की भीड़ रास्ता रोके, उत्सुक नज़रों से दूल्हा तथा दुल्हन के बाहर आने की बाट जोह रही थी—पुरुषों के हाथों में बाँसों के साथ बँधी लिपटी चादरें थीं, जो पलक झपकते ही खुल जाने को व्यग्र थीं और स्त्रियों के आँचल फैल जाने को उत्सुक थे। गली के दोनों ओर छतों पर पड़ोसिनों की भीड़ लगी थी, जिनके ओठ गाना गाने के लिए जैसे फड़क रहे थे।

घर के अन्दर आँगन में तिल धरने को जगह न थी। एक ओर वर-पक्ष के लोग खड़े थे, 'इंजड़ी चितने'[1] की रस्म हो चुकी थी और पण्डित के मन्त्र अभी-अभी हवा में फैलकर कहीं गुम हो गये थे और उनका स्थान विदाई की सिसकियों ने ले लिया था। पुरोहित ने चावलों का दाना लड़की के हाथ पर

[1]—दूल्हा और दुल्हन के कपड़ों को बाँधने की रस्म।

रखा। मंसा ने उसे छिड़कते हुए पण्डित के कहने के अनुसार ओठों में ही कहा, "आपका भाग्य आपके साथ, मेरा भाग्य मेरे साथ!" और उसकी आँखें भर आयीं, तभी सहेलियों ने गाना आरम्भ किया—

सट्ठ सहेली दर खड़ी
मैनूँ नहीं मिलन दा चाव
वे सुन बाप मेरा[1]

मंसा सब से गले मिलकर जुदा हो रही थी। यह सुनते ही बाप से चिमट गयी और लड़कियों ने गाया—

गलियाँ ते होइयाँ बाबल भीड़ियाँ
मैनूँ आँगन होइया परदेस
वे सुन बाप मेरा[2]

और बाप ने आँखों में अनायास ही छलछला आने वाले आँसुओं को बरबस रोकते हुए उसके कन्धे को थपथपाकर कहा, "बस, बस!"

उस समय अपने पिता तथा पुरोहित का इशारा पाकर, दरवाज़े पर खड़ी हुई महरी के कुम्भ में कुछ चाँदी के सिक्के डालकर, दूल्हा बाहर निकले। उनके पीछे-पीछे अपने पिता की गोद से लगी हुई मंसा थी और दोनों के मध्य एक श्वेत साफ़े का छोर लाल सालू से बँधा-बँधा जा रहा था।

उस क्षण एकदम बाजे ज़ोर-ज़ोर से बजने लगे और शहनाई वाले ने झूम-झूमकर, मुँह फुला-फुलाकर शहनाई में फूँक देना आरम्भ किया, तब समधी ने थैली का मुँह खोलकर नये, मोहरों की तरह चमकते हुए पैसों की एक-दो मुट्ठियाँ दूल्हा-दुल्हन के ऊपर से वार कर फेंकी। बाँसों से लिपटी हुई चादरें खुलीं, आँचल खुले और पैसों की लूट आरम्भ हो गयी।

१—साठ सहेलियाँ दरवाज़े पर खड़ी मेरी बाट जोह रही हैं, पर मेरे मन में किसी से मिलने का चाव नहीं, ऐ मेरे पिता सुन!

२—ऐ पिता, गलियाँ सँकरी हो गयी हैं और अपना आँगन अब मेरे लिए परदेश हो गया है।

तब पीछे चली आने वाली तथा गली के दोनों ओर छतों पर एकत्र स्त्रियों ने आर्द्र कण्ठों से गाया—

गलियाँ ते होइयाँ बाबल भीड़ियाँ
मैनूँ आँगन होया परदेस
वे सुन बाप मेरा ।

मलावी चुपचाप मन्त्र-मुग्ध-सी लाल सालू पहने, तनिक-सा घूँघट निकाले दूसरी स्त्रियों के साथ चली जा रही थी । उसकी आँखों से आँसू जारी थे, परन्तु धीमे स्वर से वह भी अन्य स्त्रियों के स्वर-में-स्वर मिलाकर गा रही थी । उसकी आँखों के सामने एक ऐसा ही दृश्य घूम रहा था, जब वह भी अपने पिता की गोद में चढ़कर घर से विदा हुई थी ।

बाज़ार आ गया । लड़की को ताँगे में बिठा दिया गया । महरी साथ बैठ गयी तो लड़की की सिसकियाँ और भी ऊँची होती गयीं और वह अपनी माँ के गले से लिपट गयी । मलावी ने अपनी विदा होती हुई लड़की को ज़ोर से अपने बाज़ुओं में भींच लिया और उस समय उसे एक और स्निग्ध आलिंगन का स्मरण हो आया, जब बहुत वर्ष पहले अपने ही विवाह पर वह अपनी माँ से इसी प्रकार लिपट गयी थी । जब सिसकती हुई लड़की को धीरे-धीरे उसने अलग किया तो उसके बाज़ुओं पर से होते हुए उसके हाथ निमिष-मात्र के लिए उसके गोखरुओं पर आ रुके...

पर तब ताँगा चलने लगा था और समधी ताँगे के ऊपर से पैसों की वर्षा कर रहे थे, भंगी लूट रहे थे और बाजे भी ज़ोर-ज़ोर से बज रहे थे ।

जब लड़की को विदा करके मलावी अपने घर में आयी तो उसे सब-कुछ सूना-सूना-सा प्रतीत हुआ । सालू बदलने के लिए जब वह अन्दर गयी तो ट्रंक पर पड़े हुए उपेक्षित-से गोखरुओं के डिब्बे पर उसकी नज़र गयी और उसे लगा कि वह अपनी इकलौती लड़की ही को विदा करके नहीं आयी, वरन् अपने सब से प्रिय आभूषण को भी विदा दे आयी है ।

दूसरे दिन जब मंसा अपनी ससुराल से वापस आयी और सहेलियों से

मिल-मिलाकर अपनी माँ के पास बैठी, मलावी ने उसे समझाया कि बेटी तेरा स्वभाव कुछ बेपरवाही का है। रात को सोते समय गोखरू उतार लिया करना। तेरे हाथों में ज़रा खुले हैं, कहीं किसी दिन खिसक ही न जायें!

दो वर्ष बीत गये, तीयों[1] का त्योहार आ गया। इस बार मलावी ने अपने पति से अनुरोध करके मंसा को बुलवा भेजा। उसकी ससुराल वाले तो उसे बिलकुल न भेजना चाहते थे, पर वह मैके आने के लिए छटपटा रही थी और उसके कई पत्र मलावी को आ भी चुके थे।

मलावी स्वयं भी उसे देखना चाहती थी। इस बीच में यद्यपि वह अपनी गोखरुओं की जोड़ी को बहुत हद तक भूल गयी थी, किन्तु फिर भी जब किसी की कलाइयाँ आभूषणों से भरी हुई देखती, उसे अपनी कलाइयों का ख़याल आ जाता और अतीत के कई चित्र उसकी आँखों के सामने घूम जाते, जब उसके बाज़ू गहनों से भरे हुए रहते थे। उसकी कलाइयों में एक साथ बन्द, गोखरू, लच्छे और चूड़ियाँ पड़ी रहती थीं। फिर उसके पति को कारोबार में घाटा पड़ा, वे सब गहने एक-एक करके सराफ़ की दुकान पर पहुँच गये और हाथ के गहनों में उसके पास केवल गोखरू ही रह गये। फिर वह दिन भी उसकी आँखों के सामने घूम जाता, जब वे गोखरू भी उसने हँस-हँसकर अपनी लड़की को पहना दिये थे। उस वक़्त वह घर जाकर ताक में रखे हुए गोखरुओं के पुराने डिब्बे को एक नज़र देख लेती, दीर्घ निश्वास भरकर और उसे झाड़-पोंछकर फिर वहीं रख देती। भाग्य के बिना कौन किसी चीज़ का उपभोग कर सकता है? गहने तो उसे बहुत मिले, पर उन्हें पहनना किसी और ही के भाग्य में था। उन सब गहनों के नाम पर एक पुराना ख़ाली डिब्बा उसके पास रह गया था, जो उसे अपने अभाव की याद ही अधिक दिलाता था, किन्तु फिर भी उस पुराने डिब्बे को वह फेंकती न थी। झाड़-पोंछकर वहीं ताक में रख दिया करती थी।

१—तीज का त्योहार = जब सावन में लड़कियों के मेले लगते हैं, झूले पड़ते हैं और आनन्द मनाया जाता है।

और जब वह विह्वल-सी अपनी लड़की की प्रतीक्षा कर रही थी तो कौन जानता है, अपने उस चिर-परिचित गहने को देखने की लालसा भी उसके हृदय के किसी अज्ञात कोने में न दबी पड़ी थी।

और जब एक दिन मंसा अपनी ससुराल से आ गयी तो मलावी ने देखा कि इस दो वर्ष के अर्से ही में उसके गोखरू घिसकर पीतल-ऐसे निकल आये हैं। और तब आलिंगन में लेकर कुशल क्षेम पूछने के बाद, इच्छा न होते हुए भी, मलावी ने अपनी लड़की को कोसना आरम्भ कर दिया, "यह गहनों की क्या हालत बनायी है तूने ? इस तरह तो पराये का गहना भी नहीं पहना जाता। दो ही वर्ष में तूने इतने कीमती गोखरू घिसा दिये ! पाँच रुपये तो इनकी गढ़ायी में ही मैंने दिये थे। मैल इनमें इतनी जमी हुई है, बर्तन माँजते, झाड़ू-बुहारी देते समय तू उतारती न थी इन्हें ?..."

और गोखरुओं से नज़र हटाकर उसने अपनी लड़की के चेहरे की ओर देखा और उसका हृदय धक्क से रह गया। वह क्या बक गयी ? अपनी लड़की से उसके दुख-दर्द का हाल पूछने के बदले गोखरुओं का रोना ले बैठी। मलावी ने देखा, उसकी लड़की दुर्बल हो गयी है। उसकी आँखों के गिर्द गढ़े पड़ गये हैं और उसका रंग पहले से काला पड़ गया है—सहसा आवेश के वश हो, उसने फिर अपनी लड़की को अपनी भुजाओं में भींचकर, उसके रूखे शुष्क गालों को चूम लिया।

मंसा की आँखें भर आयी थीं। वह न जाने अपनी माँ से कौन-कौन से दुख का बोझ बटाने आयी थी और माँ ने आते ही कोसना आरम्भ कर दिया। अब उस आलिंगन में उसके नीरव आँसू मुखरित होकर सिसकियाँ बन गये।

तब मलावी ने उसे सान्त्वना देते हुए अपने इस व्यवहार पर खेद प्रकट किया और तभी मंसा ने बताया कि किस तरह यही गोखरू मात्र उसके पास बच रहे हैं और किस प्रकार उसने उन्हें अपनी कलाइयों से पल भर के लिए भी अलग नहीं किया। सास ने तो, मंसा ने बताया, शुरू ही में अपने छोटे लड़के की शादी के बहाने उसके सब गहने ले लिये थे और फिर लाख माँगने पर भी

उसे न दिये थे। ये गोखरू भी एक उत्सव पर उसे पहनने को दिये गये थे, बस फिर उसने इन्हें अपनी कलाइयों से अलग नहीं किया। सास ने बहुतेरा कहा, पर वह किसी तरह भी अपनी कलाइयों को सर्वथा सूनी कर लेने को तैयार न हुई। इस पर उसकी जो दुर्दशा हुई, उसका हाल भी रो-रोकर मंसा ने अपनी माँ को बताया—सास ने उसे ताने दिये, कोसा, यहाँ तक कि गालियाँ दीं; ससुर भी बेहद नाराज़ हुए और उसके पति ने उसे मारा भी—पर उसने फिर गोखरू नहीं दिये।

मलावी ने अपनी लड़की को अपनी छाती से लगा लिया और उसकी आँखों में आँसू भर आये। इन आँसूओं में कितना दुख था और कितना सुख था, इसे अन्तर्यामी के सिवा कौन जान सकता है?

कहते हैं, यदि किसी दूसरे व्यक्ति की नीयत किसी चीज़ में रह जाय तो वह चीज़ गुण नहीं करती। इसीलिए शायद गोखरुओं ने मंसा को लाभ नहीं किया, बल्कि उसकी जान ही लेने का कारण बने।

मैके होकर जब मंसा ससुराल पहुँची तो घर वालों के प्रति उसका व्यवहार और भी रूखा हो गया था और उसने निश्चय कर लिया था कि गोखरू देना तो अलग, वह अपने शेष गहने भी लेकर रहेगी। मलावी ने भी उसे यही कुछ सुझाया था।

"समय-कुसमय पर गहना ही हिन्दू स्त्री के काम आता है, इसलिए नासमझी में अपना गहना गँवा न देना," उसने अपना उदाहरण देकर कहा था और फिर मौसी पूरणदेई की मिसाल दी थी, "अपनी मौसी पूरणदेई को ही देख लो, पति ने दीवाले की दरख्वास्त दे दी, पर उसनें अपनी एक तीली[1] तक को भी हाथ नहीं लगाने दिया और अब मुहल्ले की चौधराइन बनी बैठी है।"

इसी परामर्श का यह फल था कि जब एक दिन मंसा की देवरानी को मैके

१—नाक का ज़ेवर।

जाना पड़ा और सास ने मंसा से प्रार्थना की कि कुछ दिनों के लिए गोखरू उसे दे दे तो मंसा ने साफ़ इन्कार कर दिया। सास ने अपने बेटे से कहा, बेटे ने अपनी बहू से, पर बहू कुछ ऐसी अपने हठ पर अड़ी की टस-से-मस न हुई। तब उसने बल से गोखरू छीनकर अपने छोटे भाई को दे दिये।

मंसा रोयी, चिल्लायी, उसने गालियाँ खायीं, पिटी और फिर बीमार पड़ गयी।

जब मलावी को मालूम हुआ, उसकी लड़की मृत्यु-शय्या पर पड़ी है और उड़ती-उड़ती यह ख़बर भी उसके कान में पहुँची कि सास-ससुर ने उसके सब गहने छीन लिये हैं और उसे मारा-पीटा भी है तो क्रोध से उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। अपने पति को उसने साथ लिया और 'राहो'— अपनी लड़की की ससुराल को चल दी।

इसके बाद जो हुआ, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसी शाम को सब गहनों समेत वह अपनी मृतप्राय लड़की को सालम लारी पर लादकर घर को वापस आ रही थी।

मंसा के जीने की कोई आशा हो, यह बात तो नहीं, पर लारी के धक्कों में अपनी लड़की को किसी प्रकार सम्हालते हुए वह सर्वशक्तिमान से यही प्रार्थना कर रही थी कि उसका दम; कम-से-कम घर जाने तक, रुका रहे।

लारी के फ़र्श पर बिस्तर बिछवाकर, किसी-न-किसी तरह उसने अपनी लड़की को वहाँ लिटा दिया था। मंसा की आँखें बन्द थीं। कुन्दन सा शरीर राख हो गया था। लकड़ियों के-से बाजू कंकाल-से शरीर के दोनों ओर निर्जीव-से पड़े थे। अन्तिम घड़ियाँ थीं। आत्मा के साथ शरीर का सारा मल भी बाहर निकल जाना चाहता था। तब उस मैले, गन्दे, गीले कपड़े को, किसी-न-किसी तरह, उसके गिर्द लपेटती हुई, लुढ़क पड़ने से बचाने के हेतु उसे दोनों हाथों से थामे मलावी उसके सिरहाने बैठी अपनी इस लड़की को निर्निमेष देख रही थी। अपना सब उबाल, सब क्रोध, समस्त क्रन्दन वह समधियाने में ख़र्च कर आयी थी। इस समय उसकी आँखों में मात्र एक हिंस्र ज्वाला लपलपा रही

थी, जैसे वह इस ब्रह्माण्ड को जला डालेगी। रह-रहकर उसकी दृष्टि गोखरुओं पर भी जा पड़ती थी। वह उसे हटा-हटा रखती थी, पर फिर वह वहीं जा टिकती। उसके इतनी साध के गोखरू, वह न पहने, उसे और कोई पहने—यह वह कैसे सहन कर सकती ?

इधर-उधर से गुज़रती हुई मोटर-लारियों की मिट्टी उड़कर लारी के अन्दर आ जाती और वह अपना मुँह दुपट्टे से ढँक लेती और उसी मैले, गन्दे कपड़े का सिरा अपनी म्रियमाण लड़की के चेहरे पर भी रख देती।

संध्या का सूर्य मकानों के पीछे कहीं पश्चिम में मुँह छिपा चुका था, जब मलावी ने, प्रायः मरी हुई लड़की को लेकर अपने आँगन में प्रवेश किया। मिनटों में पड़ोसिनों ने उसे घेर लिया, पर उसने किसी को आँगन में न घुसने दिया, "इसकी हालत ठीक नहीं, निर्दयियों ने बस मारकर ही मेरे साथ कर दिया है," उसने भरी हुई आँखों के साथ कहा और उनसे प्रार्थना की कि वे हवा न रोकें, उसे अपनी लड़की का इलाज करने दें, परमात्मा के घर में..."

फिर सब को सुनायी देने वाली आवाज़ में उसने अपने पति से कहा कि दौड़कर डाक्टर को बुला लाये, पैसे का मुँह ऐसे समय न देखे और उसके जाने पर, पड़ोसिनों को विनय-पूर्वक बाहर भेजकर उसने आँगन का किवाड़ बन्द कर लिया और लड़की के सिरहाने जा बैठी।

पर लड़की का दम तो कदाचित् अपने इस आँगन तक पहुँचने ही की बाट जोह रहा था। मलावी ने नाड़ी देखी तो वह बन्द हो चुकी थी।

वह चीख़ मारने लगी थी कि निमिष-मात्र के लिए उसके मन में कोई विचार आया और उसका दिल धक्-धक् करने लगा। चीख़ उसके ओठों तक आकर रुक गयी। इस विचार को उसने अपने मन से निकालने की कोशिश की, व्यस्त होकर दिये-बत्ती का भी प्रबन्ध किया, किन्तु उसके अन्तर में निरन्तर संघर्ष छिड़ा रहा और दिल और भी ज़ोर-ज़ोर से धक्-धक् करता रहा।

उसने चाहा रोना शुरू कर दे, पर अबकी क्रन्दन उसके ओठों तक भी न आया। एक-दो क्षण वह आँगन में इधर-उधर घूमी। अपनी दृष्टि को मृत लड़की के शरीर से दूर रखने का भी उसने प्रयास किया, पर उसका द्वन्द्व

न मिटा। आखिर वह शव के पास आयी और उसकी अकड़ी हुई कलाइयों से उसने चुपके से गोखरू उतार लिये।

अन्तर में किसी ने कहा, "लड़की का धन है।"

किन्तु फिर अन्तर ही से कोई बोला, "मृत लड़की का कैसा धन ? कोई बच्चा भी तो नहीं !"

और वह गोखरू लिये अन्दर कमरे में चली गयी। ताक में वही पुराना उपेक्षित-सा डिब्बा पड़ा था। मलावी ने दुपट्टे से उसे झाड़कर गोखरुओं को उसमें रखा और फिर उसे ट्रंक में बन्द कर दिया। तब ट्रंक से एक श्वेत खेस और चादर निकाल लायी। शव के गन्दे कपड़े उतारकर उसने एक कोने में रख दिये और उसने नीचे खेस बिछाकर चादर को उसके शरीर पर लपेट दिया। सिरहाने दानों के ढेर पर रखे हुए आटे के दिये को दियासलाई दिखायी और फिर आँगन का दरवाज़ा खोलकर उसने एक चीख़ मारी।

इसके बाद ग्यारह दिन किस प्रकार गुज़रे, मलावी कितना रोयी-पीटी, उसने कितने बाल नोचे, इसका पता उसकी सूजी आँखें, लाल छाती और रूखे खड़े-खड़े बाल भली-भाँति देते थे। ग्यारह दिन तक वह अपनी लड़की के ससुराल वालों को गालियाँ देती रही कि गहनों के लिए उन्होंने उसकी लड़की की जान ले ली और ग्यारह दिन तक ही वे गन्दे, मैले, बदबूदार कपड़े उसने अपने घर में रख छोड़े, और गली-मुहल्ले को दिखा-दिखाकर उसने अपनी लड़की के ससुराल वालों की नीचता सिद्ध कर दी और बिरादरी के सामने वे चन्द गहने, जो गोखरुओं के अतिरिक्त उसकी लड़की के शरीर से उतरे थे, उसने क्रिया-कर्म के दिन दान करा दिये।

एक पड़ोसिन ने पूछा, "गोखरू नहीं दिये ?"

उत्तर देते समय मलावी का दिल धड़क उठा, पर उसने उन कपड़ों की ओर, जो आँगन के एक कोने में नाली पर पड़े थे, संकेत करते हुए कहा कि जिन्होंने उसकी फूल-सी लड़की को ऐसे गले-सड़े कपड़ों में आवृत रखा, उनसे ऐसी आशा कहाँ ? ये सब भी न जाने कितना लड़-झगड़कर वह लायी है। उस

निर्दय धरती में पैदा होने वालों ने तो उसकी बच्ची को गहनों के लिए तरसा-तरसाकर मार दिया और फिर जैसे अपने-आपसे उसने कहा था, "अब दिये भी तो क्या ?"

और जब 'क्रिया-कर्म' के बाद बारहवें दिन वह रात को छत पर लेटी तो उसे नींद न आयी। वह सर्वथा अशिक्षित गँवार स्त्री थी। सूक्ष्म भावों का विश्लेषण करना वह न जानती थी, पर उसका वह समस्त कृत्य उसके मन पर बोझ बना बैठा था। अपनी मृत लड़की के शव से उसने गोखरू उतार लिये। उसने क्यों ऐसा किया ? उसके कोई दूसरी लड़की नहीं। उसके क्या, उसके रिश्तेदारों तक में कोई लड़की नहीं कि उसे उनमें से किसी विवाह आदि में कोई गहना देना हो। तो क्या वह अन्धों की तरह गोखरुओं के पीछे नहीं भागती फिरी ? क्या वही अपनी लड़की की घातक नहीं ? और वह सिहर उठी। उसने सिर को झटका देकर इस विचार को मस्तिष्क से निकालने का प्रयास किया।

उनकी छत के चारों ओर बड़े-बड़े मकान थे। परे अँधेरे में उसका पति गहरी नींद सोया हुआ था। मलावी ने लम्बी साँस ली—उसके पति के मन पर कोई बोझ नहीं। पर उसके अपने मन पर...उसने करवट बदल ली।

आकाश पर यद्यपि चाँद चमक रहा था, किन्तु उसकी एक किरण तक भी उसकी छत पर न दिखायी देती थी और रात जैसे ऊपर के खुले मकानों की दीवारों से टकराकर सायँ-सायँ कर रही थी।

मलावी के सामने उसका कृत्य फिर भयावह रूप धारण करके आने लगा। क्या आरम्भ से अन्त तक अपनी उस लड़की के प्रति एक असह्य ईर्ष्या उसके मन में नहीं थी ? क्या वह अन्धों की भाँति बिना समझे समधियाने की ओर नहीं उड़ी गयी ? क्या आरम्भ से ही उसके मन में यह विचार न था कि वह गोखरुओं को वहाँ न रहने देगी ? क्या उसके हृदय के किसी स्तर के नीचे यह इच्छा न छिपी बैठी थी कि चाहे लड़की की धरोहर के रूप ही में सही, पर गोखरू रहें उसके पास ही ? और क्या इस इच्छा के अधीन अपनी लड़की का मरना भी उसने मुश्किल नहीं कर दिया ?

मलावी ने फिर करवट ली। दूर, कदाचित् कहीं किसी लड़की का विवाह होने जा रहा था। दूल्हा शायद 'लगनों' के लिए आ रहा था। बाजे बज रहे थे और शायद आगे-आगे आतिशबाज़ी छूट रही थी—एक हवाई आकाश की बुलन्दियों को तय करती हुई ऐन उसकी छत के ऊपर आकर फटी। ज़ोर का धमाका हुआ। मलावी डर गयी और फिर निर्निमेष उस तेज़ी से नीचे की ओर आने वाली चिनगारी को ताकती रही। उसकी आँखों के सामने उसकी लड़की के विवाह का दृश्य घूम गया और फिर उसकी अर्थी का दृश्य--क्या इन दोनों को इतना समीप लाने में उसका हाथ न था?

वह अपनी चारपाई से उठी और वहीं छत पर इधर-उधर घूमने लगी। ऊपर से कोई पंछी फड़-फड़ करता हुआ उड़ गया। उसके मन में हलचल मची हुई थी और उन बद-किस्मत गोलरुओं का भार जैसे उसके मन पर प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था।

अपनी उनींदी आँखों को लिये हुए जब भगवती ब्राह्मणी ने ड्योढ़ी के किवाड़ खोले तो मंसा की माँ को उस समय अपने सामने पाकर विस्मित-सी खड़ी रह गयी।

अन्दर जाकर दिये के मद्धिम प्रकाश में भगवती ने देखा, मंसा की माँ का चेहरा श्वेत हो रहा है, उसके बाल बिखरे हुए हैं और ओठ सूखे हुए हैं।

"तुम्हारी बहू घर ही पर है?"

इस प्रश्न पर और भी चकित भगवती मलावी के मुँह की ओर देखने लगी, फिर उसने धीमे, शंकित स्वर में कहा, "बेचारी अभी सोयी है। धनीराम सेठ की लड़की का लगन था। फेरे शायद अब हो रहे हैं, पर मैं तो ले आयी उसे।"

भगवती के लड़के का विवाह कुछ ही दिन पहले हुआ था। अपने पुत्र की इच्छा के विरुद्ध वह अपने इस बड़े यजमान की लड़की के विवाह पर बहू को ले गयी थी। यदि अभी से यजमानों से परिचय पैदा न किया तो काम कैसे चलेगा? फिर भी 'लगनों' की समाप्ति से पहले ही वह उसे ले आयी थी।

अभी-अभी बहू अपने कमरे में गयी थी, इसलिए उसे बुलाने में भगवती को संकोच हो रहा था। पर मलावी की आकृति में, उसके स्वर में कुछ ऐसी बात थी कि वह कुछ न कहकर चुपचाप ऊपर चली गयी।

कुछ क्षण बाद भगवती के पीछे-पीछे, तनिक-सा घूँघट निकाले हुए सकुचाती और लजाती बहू सीढ़ियाँ उतरी।

मलावी अभी तक वैसे ही खड़ी छत की ओर देख रही थी। अचानक दीवार के साथ लगी हुई पीढ़ी को बिछाकर उसने बहू से कहा, "बैठो!"

तब भगवती को अपने व्यवहार के अनौचित्य का ध्यान आया। पीढ़ी मंसा की माँ की ओर खिसकाकर उसने कहा, "नहीं-नहीं, तुम बैठो, मैं मूढ़ा लायी।" और यह कहकर वह जल्दी से अन्दर कोठरी से पिसी हुई महीन ईख के घिसे, मैले मूढ़े उठा लायी।

तब बहू का हाथ थामकर मंसा की माँ ने उसे मूढ़े पर बिठाया और अपने दुपट्टे से गोखरू खोलकर लाल चूड़े के आगे उसकी कलाइयों में पहना दिये।

भगवती की आँखें चमक उठीं और बहू चकित-सी उन चमकते हुए गोखरुओं को देखती रह गयी।

तब भरे हुए गले से मलावी ने कहा, "भाभी ये मेरी मंसा के गोखरू हैं। मैं अपनी ख़ुशी से इन्हें बहू को देती हूँ। तुम मेरी लड़की के लिए प्रार्थना करना कि ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति दे।" और फिर कुछ रुककर उसने कहा, "और मेरी एक विनय और है, बहू जब भी हमारे घर आये, इन गोखरुओं को अवश्य पहनकर आये।"

इसके बाद भगवती ने जिन आशीषों का सिलसिला आरम्भ किया, उन्हें मंसा की माँ ने नहीं सुना। दीर्घ-निश्वास को निकल पड़ने से बरबस रोककर और बिना गोखरुओं की ओर देखे, वह दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आयी।

रात अब भी सायँ-सायँ कर रही थी और दूर कहीं आकाश की ऊँचाइयों में देर का उड़ा हुआ फ़ानूस धीरे-धीरे नीचे की ओर आ रहा था।

●

बैंगन का पौधा

यद्यपि माहीराम ने वह बैंगन का पौधा उखाड़ दिया है तो भी जब मैं सब्ज़ी के खेत के-मेड़ पर से होता हुआ, अपनी कोठी को जाता हूँ, मेरी आँखों में बैंगन का वह सूखा-सड़ा पौधा और उस पर लटकता हुआ पीला, पिचका, मुरझाया बैंगन घूम जाता है।

सर्दियों के संक्षिप्त दिन को बीते देर हो गयी थी। खाना खाने के बाद एक लम्बा चक्कर लगाकर जब मैं नीचे खादी की मोटी बनियाइन, उस पर मोटी खादी की कमीज़, उसपर गर्म कुर्ती, फिर गर्म अचकन और गुलूबन्द और इन सब के ऊपर ओवरकोट डाटे, हाथ में बैट्री लिये, लोहे की एड़ी वाले अपने फ़्लेक्स के बूटों की ठक-ठक से मस्त, पूस की तीखी, ठण्डी, सूखी हवा से बचने के लिए कानों को ओवरकोट के कालरों में छिपाता, अपनी कोठी के बरामदे में दाख़िल हुआ तो वहाँ एक मैली-सी चारपाई पर एक बूढ़े को जीर्ण-जीर्ण-सा अँधेरी काली रात की तरह मैला, काला लिहाफ़ लपेटे, खाँसते देखकर कुछ चकित-सा रह गया।

"क्यों भई,क्या बात है ?" मैंने ओवरकोट की जेबों में अपने दोनों हाथों को एक-दूसरे के निकट लाते हुए कहा।

"कुछ नहीं बाबू जी, मैं माहीराम का आदमी हूँ।"

"माहीराम ही के सही, लेकिन इतनी सख़्त सर्दी में तुम इस खुले बरामदे में क्यों पड़े हो ?"

"मेरे पास कपड़ा है बाबू जी।"

मैंने चुपचाप अपना कमरा खोला। चौदह लाइन का बड़ा डिटमार्की टेबल-लैम्प जलता छोड़ गया था और यद्यपि ऊपर के दोनों रोशनदान खुले थे तो भी कमरा गर्म हो गया था। मेरे प्रवेश करते ही गर्म, लेकिन मिट्टी के तेल में लिपटी हुई, तेज़ बू का भभका आया। प्रायः मेरे मित्रों ने मुझे इस प्रकार लैम्प जलाकर छोड़ जाने से मना किया है। "नगर की गन्दी हवा को छोड़कर इस खुले में निवास करने से लाभ ?" वे पूछा करते हैं, "यदि नगर की बुरी आदतों को वहाँ न छोड़ा जाय !" और वे मुझे सुझाते हैं कि डाक्टरों के मतानुसार कमरे को बन्द करके, अन्दर लैम्प जला रखना अत्यन्त हानि-कारक है, साँस के रास्ते गन्दी हवा अन्दर जाती है, फेफड़ों पर उसका दबाव पड़ता है और फेफड़े कमज़ोर हो जाते हैं। मैं प्रायः वैसा अनुभव करता भी हूँ, लेकिन इसको क्या करूँ कि मैं नित्य ऐसा करने को विवश हो जाता हूँ। जब भी कभी किवाड़ खोलकर बैठता हूँ और तीखी वायु का झोंका अन्दर आता है और मेरे हाथ सन्न हो जाते हैं और कलम मेरे हाथ में चलने से इन्कार कर देता है, तब मैं उठकर किवाड़ बन्द कर देता हूँ। जैसे सिगरेट पीने वाले को उसकी कड़ुवी, कसैली, सिर चकरा देने वाली गन्ध अच्छी लगने लगती है, कुछ इसी तरह यह सब मुझे अच्छा लगने लगा है।

हैट को खूँटी पर टाँग, गुलूबन्द को निकालकर, उससे सिर और कानों को लपेट मैं काम पर बैठ गया।

बैठ तो गया, किन्तु ध्यान बरामदे की ओर ही लगा रहा।

इस बूढ़े को मैंने देखा था। सुबह ही देखा था। वह बैंगन के पौधे छाँट रहा था और डाइनिंग-हॉल से घर को आते हुए मैंने उससे पूछा भी था कि वह क्यों ऐसा कर रहा है। उसने बताया था कि बैंगन दो बार फल देता है। एक बार छाँट दिया जाय तो और भी बढ़ता-फूलता है। मैंने उन सूखे पल्लव-हीन बैंगन के पौधों पर निगाह दौड़ायी थी। एक पौधे पर एक सूखा, सिकुड़ा, मुरझाया, पीला बैंगन लटक रहा था। वहाँ से हटकर मेरी दृष्टि उस बूढ़े पर गयी थी। उसकी उमर न जाने कितनी थी, किन्तु वह बेहद बूढ़ा दिखायी देता

था। यद्यपि सर्दी से बचने के लिए उसके पास खेसी थी तो भी उसके लकड़ी-से पतले पीले हाथ, बाँस-सी पतली टाँगें, सूखा पिचका चेहरा और आँखों के गढ़े साफ़ दिखायी देते थे। तब एक अजीब-सा ख़याल मेरे मन में दौड़ गया था—बैंगन का पौधा जब सूख जाता है तो छाँटने पर फिर फल उठता है, सहजन भी छाँटने पर बढ़ता है। ऐसे पेड़ और पौधे हैं, जो छाँटने पर और भी ज़्यादा बढ़ते हैं। मानव को उस अदृश्य स्रष्टा ने ऐसा क्यों नहीं बनाया? किन्तु तभी अन्तर में किसी ने कहा कि मानव की बेलि भी तो अमर है—पुरुष-स्त्रियाँ, बच्चे-बूढ़े, इसके फल-फूल, पत्ते और शाखाएँ हैं। मृत्यु इसकी कैंची है। जब वे सड़-सूख जाते हैं तो वह कैंची उन्हें काट देती है और उनके स्थान पर नित नूतन, हरे-भरे, जीवन के उल्लास से किलकारियाँ मारते, हँसते, नाचते, गाते हुए पत्ते, फूल, फल लगते जाते हैं।

किन्तु यह बूढ़ा यहाँ सर्दी में क्यों आ पड़ा है? क्या इसका घर-दर कोई नहीं? और तनिक चौंककर मैंने पूछा, "क्यों जी तुम हो कौन?"

"जी मैं माहीराम का आदमी हूँ।"

"हाँ, माहीराम के आदमी तो हो, लेकिन माहीराम के क्या लगते हो?"

बूढ़ा कुछ उत्तर देने लगा था कि उसे खाँसी का दौरा हुआ। कई क्षण तक निरन्तर खाँसने के बाद, अपनी साँस को कठिनाई से दुरुस्त करते हुए उसने बताया कि वह माहीराम का कुछ नहीं लगता। वह उसके गाँव का है। कुटुम्ब बहुत बड़ा है। पाँच छोटे-छोटे बच्चे हैं और बीवी, दो लड़कियाँ हैं ब्याहने योग्य, और वह रोज़गार के लिए माहीराम के साथ चला आया है।

उसकी वाणी में कुछ ऐसी करुणा थी कि काम करना मेरे लिए दुष्कर हो गया। मैं शरीर पर इतने कपड़ों के होते हुए भी पतलून के ऊपर कम्बल डालकर गर्म कमरे में बैठा हूँ और यह ग़रीब ठण्ड में पड़ा है। बिस्तर के नाम पर शायद मैली, फटी दुलाई उसके पास है और वह काला लिहाफ़ भी शायद वर्षों का पुराना है।

आर्द्र-सा होकर मैंने कहा, "तो भाई अन्दर लेट जाओ, बाहर तो बड़ी ठण्ड है। बरामदा दो तरफ़ से खुला है। बाहर तुम क्यों बैठे हो?"

किन्तु तभी सीमेंट के फ़र्श पर भारी जूतों की आवाज़ सुनायी दी और दूसरे क्षण माहीराम—वह ठेकेदार गोपालदास का छः फ़ुट तीन इंच लम्बा आदमी, दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ। बड़ी-सी पगड़ी, उसके नीचे काला मोटा कम्बल, घुटनों तक धोती और पाँव में सेर-सवा-सेर का जूता—एक दिन महज़ छः मूलियों के लिए वह प्रेस तक एक आदमी के पीछे भागा-भागा गया था और खेत में पकड़कर उसने उसे वे पटख़नियाँ दी थीं कि फिर उसने कभी उधर को मुँह न किया था।

"हमने खुद इसे वहाँ सुलाया है बाबू जी," वह बोला, "न जाने कौन रात को खेतों में डाका डालता है। दो-तीन दिन देखते हो गये हैं। कल गोभी के दस फूल ग़ायब हो गये। सारे खेत में ऐसे फूल न मिलेंगे। परसों कोई पक्के टमाटर उतार ले गया। आप जानते हैं कि हमें किचन को सब्ज़ी भी सप्लाई करनी होती है और फिर बाबू जी, दो सौ रुपये का ठेका है। वह भी तो इसी में से पूरा करना है।"

मैंने कहा, "लेकिन सब्ज़ी पर कौन डाका डाल जाता है? यहाँ तो चोरी होने की बात कभी सुनी नहीं। मेरी कोठी सुनसान में है, पास कोई कोठी नहीं, किन्तु मैं तो दरवाज़े खुले छोड़कर घण्टों ग़ायब रहता हूँ। कोई बाहर का आदमी न आता हो।"

"नहीं बाबू जी। बाहर का आदमी इतनी ठण्ड में गोभी के केवल दस फूल लेने नहीं आ सकता।"

"किन्तु उस दिन मूलियाँ भी तो......"

"वह और बात थी बाबू जी, वह तो कोई राह चलता आदमी था। जाता-जाता उखाड़ ले गया। यह कोई यहीं का है। मैं उस को पकड़कर ऐसी सीख दूँगा कि फिर जनम-भर किसी चीज़ को हाथ न लगाये।" और उसके मोटे-मोटे ओठ फैल गये और चेचक-भरा चेहरा तन गया।

"किन्तु भाई, चाहो तो इसको अन्दर सुला दो, सर्दी बहुत है।"

"नहीं बाबू जी, सर्दी आप अमीरों को लगती है। हमें सर्दी नहीं लगती। इसे तो योंही यहाँ दिखावे मात्र को सुला दिया है। रखवाली तो उन मोंगरों के

पीछे बैठकर मैं करूँगा। ज्योंही यह समझकर कि बूढ़ा सो गया है, कोई आया कि मैंने दबोचा।"

और वह हँसा।

"लेकिन इसके पास कपड़ा......"

"काफ़ी कपड़े हैं इसके पास बाबू जी।" और वह चला गया।

बूढ़े को फिर खाँसी का दौरा हुआ।

मैं फिर काम में निरत हो गया। किन्तु काम मुझसे हुआ नहीं। मेरे सामने उन दोनों के स्वामी का चित्र खिंच गया। ठेकेदार गोपालदास—धन-दौलत, सम्पत्ति, सन्तान और निश्चिन्तता के कारण जिसके गाल इस पचास वर्ष की आयु में भी गुलाब की भाँति सुर्ख़ थे—अपने गर्म लिहाफ़ में लेटा, दमकती हुई अँगीठी से गर्म अपने कमरे में मज़े से गप्पें लड़ा रहा होगा अथवा ताश या शतरंज से मन बहला रहा होगा......

और यही कुछ सोचते-सोचते मेरी आँखें मुँदने लगीं—खाना मैं ज़्यादा खा गया था, कपड़ों का बोझ मैंने लाद रखा था और कमरा मेरा गर्म था—मैं उठा। कुछ ज़रूरी काग़ज, कलम-दवात लेकर सोने के कमरे में छोड़ आया। सोचा, कल तनिक सुबह उठकर काम करूँगा। फिर वापस आकर दफ़्तर के कमरे को ताला लगाते हुए मैंने बूढ़े से पूछा कि वह चाहे तो मैं दफ़्तर का ताला खुला छोड़ दूँ। लेकिन 'नहीं-नहीं बाबू जी, मेरे पास काफ़ी कपड़े हैं' उसके यह कहने पर मैं ताला लगा, अपने स्निग्ध, गर्म, छोटे-से सोने के कमरे में चला गया। बिस्तर बिछा था, सिर्फ़ लिहाफ़ पर मैंने कम्बल और डाल लिया और कपड़े बदलकर मैं लेट गया। बिस्तर हिम की भाँति ठण्डा था। मैंने पाँव सिकोड़ लिये और फिर उन्हें धीरे-धीरे फैलाया। कई तरह के विचार मस्तिष्क में घूमने लगे—तारतम्य-हीन, बे-रब्त और असंयत—पर लिहाफ़ की गर्मी से आँखें भारी हो गयीं और फिर बन्द हो गयीं।

सोते-सोते कभी माहीराम, कभी उस वृद्ध और कभी उनके स्वामी ठेकेदार की शक्लें मेरे सामने आने लगीं।

मैंने देखा कि माहीराम ने चोर पकड़ लिया है और वह उसे पीटता-पीटता

पास के गाँव 'वेरोके' तक ले गया है और सब गाँव वालों को एकत्र करके उसने एलान किया है कि जो हमारी सब्ज़ी चुरायेगा, उसको ऐसा ही दण्ड मिलेगा। इतना कहकर वह फिर चोर को पीटता है। चोर दयनीय निगाहों से उसकी ओर देखता है और मैं हैरान होता हूँ कि वह ठेकेदार के सिवा और कोई नहीं—वही घुटा हुआ सिर, वही फूले गाल और वही चौरस नाक।

मेरी आँख खुल गयी। देखा, पाँव से रज़ाई उतर गयी थी। अधिक खा जाने के कारण छाती कुछ भारी थी और गला सूखा जा रहा था।

सिरहाने रखे हुए लोटे से पानी पीकर, अच्छी तरह से लिहाफ़ लेकर, दोनों ओर से उसे पाँवों के नीचे दबाकर मैं फिर लेट गया। बाहर हवा मकान की दीवारों से टक्करें मार रही थी और पेड़ उसके वेग का भरसक मुक़ाबिला करते हुए जोश की शिद्दत से चिंघाड़ते थे—शाँ—शाँ—शाँ! और दूर बादल की गरज और बिजली की कड़क भी सुनायी देती थी। किन्तु गर्म होकर मेरा शरीर फिर शिथिल हो गया। मैं सो गया।

इस बार मैं देखता हूँ कि जोर की वर्षा हो रही है। तेज़ हवा चल रही है। पाव-पाव भर के ओले पड़ रहे हैं। सब्ज़ी सारी तबाह हो गयी है। क्यारियों में पानी भर गया है। केवल उस पीले, पिचके, सिकुड़े बैंगन का पौधा खड़ा रह गया है। फिर वह बैंगन मेरे सामने बड़ा होना शुरू हो जाता है और मैं देखता हूँ कि उसकी शक्ल उस बूढ़े-सी बन गयी है—घुटनों को बाहों के घेरे में लिये, छाती से लगाये, वह सिकुड़ा, सिमटा, नंगा अपनी चोटी के सहारे लटक रहा है, उसी बैंगन के पौधे के साथ। ओले उसके सिर पर लगते हैं तो भी वह उसी तरह लटका झूलता है......

फिर देखता हूँ कि वह बैंगन का पौधा एक बड़ा ऊँचा, न जाने जामुन का, न जाने आम का पेड़ बन जाता है। लोगों की भीड़ उसके नीचे खड़ी शोर मचा रही है—बूढ़ा मर गया...बूढ़ा मर गया...बूढ़ा फाँसी लगाकर मर गया...

फिर मेरे कानों में सिर्फ़ 'मर गया'...'मर गया' की आवाज़ें आती हैं।

मैं जगा, देखा कोई ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ खटखटा रहा है।

सिरहाने रखी हुई गर्म जुराबें पहन, सिर पर गर्म टोपी रख और कम्बल

को अपने इर्द-गिर्द अच्छी तरह लपेटकर मैं उठा और किवाड़ खोले।

बाहर सेक्रेटरी साहब दूसरे लोगों के साथ खड़े थे। वर्षा हो रही थी, दूर दृष्टि की सीमा तक पानी-ही-पानी दिखायी देता था और दिन काफ़ी चढ़ आया था।

"क्या बात है?" मैंने पूछा।

"रात आपके बरामदे में बूढ़ा मर गया।"

मैंने देखा, उसी काली-सी चारपाई पर अपने इर्द-गिर्द लिहाफ़ लपेटे झुका-सा बूढ़ा पड़ा है। उसका लिहाफ़ वर्षा से बिलकुल भीग गया है और पानी ने सारे बरामदे को गीला कर दिया है।

"मैंने तो इससे रात में ही कहा था कि अन्दर......" मैंने कहना शुरू किया।

सेक्रेटरी साहब बोले, "मैं चाय के लिए दूध लेने किचन को जा रहा था कि मैंने इसे भीगते हुए पाया। आवाज़ दी, पर यह हिला नहीं। आकर देखा तो मालूम हुआ कि अकड़ गया है।"

और उन्होंने ठेकेदार के आदमियों से कहा कि वे उसे उठाने की व्यवस्था करें।

इसके दो दिन बाद मैंने किचन को जाते हुए अचानक माहीराम से कहा, "खुदा के लिए इस पीले-से बैंगन के पौधे को उखाड़ दो।"

मेरे स्वर की विचित्रता से माहीराम चकित-सा होकर मेरी ओर देखने लगा और फिर उसने कहा, "बहुत अच्छा सरकार!"

डालिये

पहलगाम की सुबह पिछले दिन से कुछ और सुन्दर और आकर्षक छवि लिये हुए उदय हुई थी। सामने के पहाड़ की हिम-मण्डित चोटियों पर सफ़ेद बादल लहरा रहे थे। भिनसारे में पत्थरों से टकराकर फेनोच्छ्वास छोड़ता हुआ लिद्दर और उसके किनारे-किनारे बसे अनगिनत छोटे-बड़े खेमों की दुनिया बड़ी ही भली लग रही थी। छड़ी उठाकर मैं लिद्दर की सैर को चल दिया।

होटल से चन्द ही क़दम दूर गया हूँगा कि किसी ने पीछे से मेरे कन्धे पर हाथ रखा। मैं चौंककर मुड़ा, "अरे, चोपड़ा साहब ! कब आये ?"

"हम तो सात दिन से आये हुए हैं, आर्टिस्ट साहब, आप कब आये ?"

"मैं तो परसों आया हूँ, बहुत थक गया था, इसलिए कल आराम करता रहा। आज सोचा, ज़रा निकट से लिद्दर के दर्शन करते आयें।"

"क्या बात है लिद्दर की !" चोपड़ा साहब ने सामने पत्थरों पर शोर मचाते, झाग उड़ाते, अपने पानी के ज़हरमोहरा रंग को फेनोच्छ्वासों से हल्के हौलदिली रग में बदलते हुए लिद्दर को देखकर कहा, "यह न हो तो पहलगाम में क्या रखा है ! हम तो भाई लिद्दर में नहाते हैं, यहीं कपड़े धोते हैं, यहीं दोपहर गुज़ारते हैं।"

"कब तक रहने का इरादा है ?"

अरे आर्टिस्ट साहब, आये तो हम दो-तीन दिन रहने के ख़याल ही से थे, पर ये भाई साहब जाने ही नहीं देते।"...और सहसा पलटकर उन्होंने अपने साथ वाले आदमी को मेरा परिचय दिया—"आप इन्हें नहीं जानते ?" वे मेरी ओर संकेत करते हुए बोले, "दिल्ली के बड़े प्रसिद्ध आर्टिस्ट हैं, इनकी तस्वीरें तो राष्ट्रपति-भवन में होनी चाहिएँ, लेकिन इन्हें इसकी चिन्ता ही नहीं,

बस बनाते हैं और दोस्तों को बाँट देते हैं। लेकिन समझ लीजिए, जिसके पास इनकी एक-एक तस्वीर है, हज़ारों रुपयों की दौलत उनके पास है।"

उन 'भाई साहब' ने नमस्कार किया। विवश मैंने भी खीसें निपोर दीं। फिर मुझे उनका परिचय देते हुए चोपड़ा साहब बोले, "और ये हैं हमारे भाई साहब, यहाँ विज़िटर्ज़ ब्यूरो में काम करते हैं, बड़े सज्जन पुरुष हैं। इन्हीं के घर में हम टिके हुए हैं। हमें मालूम ही नहीं हुआ कि हम पराये घर में हैं।"

मैंने उन्हें नमस्कार किया। अबके उन्होंने खीसें निपोर दीं।

"आप कहाँ ठहरे हैं ?" क़दम बढ़ाते हुए चोपड़ा साहब ने मुझसे पूछा।

"मैं इसी होटल के तीन नम्बर के कमरे में हूँ।" मैंने मुड़कर सामने होटल की ओर इशारा करते हुए कहा।

"आप तम्बू क्यों नहीं लगा लेते ?" भाई साहब बोले।

"मैं कुछ ही दिन के लिए आया हूँ, नौकर साथ नहीं लाया, इसलिए होटल में टिक गया हूँ।"

"अच्छा चोपड़ा साहब, आपको तो साथी मिल गये।" भाई साहब ने चोपड़ा के कन्धे को थपथपाते हुए कहा, "मैं चलूँ, मुझे तैयार होकर दफ़्तर पहुँचना है, आप इनके साथ लिद्दर की सैर कर आइए!" और फिर मुझसे बोले, "आपसे मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मुझे भी कुछ ब्रश-अश चलाने का शौक है। मैं अपनी दो-चार तस्वीरें आपको दिखाना चाहता हूँ, यदि समय दें तो..."

"ज़रूर लाइए।"

और वे हाथ जोड़कर चले गये।

"कहिए भाई साहब, कैसा लगा आपको पहलगाम ?"

मिसेज़ चोपड़ा पीछे-पीछे आ रही थीं। उन साहब के जाते ही आगे बढ़ आयीं। मैंने उन्हें नमस्कार किया और कहा, "मैं तो अभी आया हूँ, आपको कैसा लगा, कहाँ-कहाँ हो आयीं ?"

दस बरस की बच्ची फुदककर आगे आ गयी और उसने मेरी अँगुली पकड़

ली। मैंने उसके गाल पर चुटकी भरी और प्यार करते हुए पूछा, "कहो मुन्नी, कहाँ-कहाँ घूमीं श्रीनगर में?"

लड़की लज्जा से दोहरी हो गयी।

"घूमते कहाँ, भल्ला साहब ने जान आफ़त में कर दी।"

"अरे, कहाँ हैं गोप साहब, वे नहीं आये पहलगाम?"

"आये थे, दो दिन रहकर चले गये।"

भल्ला साहब के ज़िक्र से मेरे सामने पठानकोट से श्रीनगर तक बस का सफ़र, बस के साथी और उनमें सब से ज़्यादा भल्ला साहब की भारी-भरकम देह, उनकी बीवी, उनकी साली और उनके बच्चों की शक्लें घूम गयीं।

बस में पहली, दूसरी और तीसरी सीट पर मेरा बच्चा, मेरी बीवी और मैं बैठा था। हमारे बराबर चोपड़ा साहब और उनकी बीवी थीं। चोपड़ा साहब के पीछे भल्ला साहब और उनकी बीवी, दोनों एक-एक बच्ची को गोद में लिये बैठे थे, हमारे पीछे भल्ला साहब की साली और चोपड़ा साहब की यही बच्ची बैठी थी। भल्ला साहब के पीछे दिल्ली के एक व्यापारी अपनी भतीजी के साथ विराजमान थे। बस में दूसरे भी लोग थे, पर यही सवारियाँ थीं, जिन्होंने हमारा ध्यान खींचा और जिनसे बाद में मेल-मुलाक़ात हुई। इनमें भी भल्ला साहब सब से महत्वपूर्ण थे।

उनकी ओर शायद हमारा ध्यान कभी न जाता, यदि उनकी साली हमारे पीछे न बैठी होतीं, उनकी बच्चियाँ अपनी ममी और डैडी को छोड़कर अपनी आण्टी के पास न आ जातीं, मेरी आँखों में नींद न भरी होती और भल्ला साहब की बच्चियाँ लता मंगेशकर के पद-चिह्नों पर चलते हुए एक-दूसरे को मात देने पर न तुली होतीं।

उनमें से एक की आयु चार और दूसरी की पाँच-छः बरस की थी, लेकिन भल्ला साहब ने उनके लिए कोई टिकट न लिया था। और दोनों मियाँ-बीवी उन्हें गोद में बैठाये थे। मेरी सीटें रिज़र्व थीं। दो दिन पठानकोट ही में एक मित्र ने रोक लिया था। सामान आदि उनके नौकर तुला-रखा गये थे। नाश्ते में देर हो गयी, बस चलने के पाँच मिनट पहले हम पहुँचे। जब बस चली और

मैंने भल्ला साहब को कष्ट से बैठे देखा तो मैंने परामर्श दिया कि वे एक बच्ची को मेरे लड़के के साथ अगली सीट पर बैठा दें और दूसरी को मेरी पिछली सीट पर उसकी अपनी मौसी के पास बैठा दें। चोपड़ा साहब ने भी ऊपरी मन से कहा, "हाँ-हाँ, मेरी बच्ची बैठी है, उसके साथ एक को बैठा दीजिए।" लेकिन भल्ला साहब ने सिर हिलाया। "नहीं जी, ये किसी और के पास बैठती ही नहीं, हमारे साथ ही चिमटी रहती हैं।" वे बोले और यह कहते हुए उन्होंने एक बार कण्डक्टर की ओर देखा...लेकिन बस अभी थोड़ी ही दूर चली होगी कि दोनों मेरी गर्दन के पीछे अपनी आण्टी के पास आ गयीं। उनकी यह आण्टी, यानी भल्ला साहब की साली, कहने को बी० ए० थीं, लेकिन आवाज़ या पहरावे, किसी से भी इस बात का सुबूत न मिलता था। उनके स्वर में कुछ अजीब-सी अनगढ़ सानुनासिकता थी। हमारी पीठ-पीछे वे लगातार कुछ-न-कुछ प्रवचन देती जा रही थीं। फिर जो बात मुझे बुरी लगती, वह यह थी कि जब खिड़की में धूप आ जाती तो वे चोपड़ा साहब की बच्ची को खिड़की में कर देतीं और स्वयं उसकी जगह हो जातीं और जब-जब पहाड़ की ओट के कारण छाया हो जाती तो उसे हटाकर फिर खिड़की में हो बैठतीं और रास्ते के बदलते दृश्यों, सड़क के दिलचस्प मोड़ों, उभरती चोटियों और बहती नदियों पर लगातार 'रनिंग-कमेण्ट्री' देती जातीं। यद्यपि पठानकोटी मित्र ने हमारे आराम के लिए कोई कोर-कसर न उठा रखी थी, लेकिन कुछ परायी जगह और कुछ गर्मी के कारण मुझे नींद न आयी थी। आँखें बेतरह बन्द हुई जा रही थीं, लेकिन वे देवी जी थीं कि उनकी कमेण्ट्री बन्द ही न होती थी। तभी भल्ला साहब की बच्चियाँ भी उनके पास आ गयीं। लेकिन उनमें से किसी को अपने पास बैठाकर अपनी जगह तंग करने के बदले उन्होंने एक को खिड़की के साथ खड़ा कर दिया और दूसरी को मेरे पीछे खड़ा कर दिया कि सामने से बाहर का नज़ारा देख सकें।

क्षण-भर तो वे कन्याएँ चुपचाप बाहर देखती रहीं, फिर अचानक उनमें से एक बड़े भोंडे, मोटे स्वर में गाने लगी :

तू मेरा चाँद मैं तेरी चाँदनी

और दूसरी ने बाहर देखते-देखते तुतली आवाज़ में लुकमा दिया :

न ये चाँद होगा, न तारे रहेंगे

कुछ देर दोनों यही गाती रहीं, फिर अचानक पहली चिल्लायी (लेकिन गाते हुए) 'वह छोटी मोटर आती है...वह छोटी मोटर आती है...।'

मैं एक बार जागा, चाहा कि लड़की के सिर पर एक चपत दूँ, पर मोटर शायद किसी मोड़ में ओझल हो गयी और लड़की चुप हो गयी। मैं ऊँघ गया।

लेकिन तब शायद दूसरी को कहीं सड़क कूटने वाला इंजन चलता दिखायी दे गया और वह गाने लगी—'वह मोटा इंजन चलता है...वह मोटा इंजन चलता है...वह मोटा इंजन चलता है...

और शायद मोड़ पर मोटर भी निकल आयी और छोटी लड़की ताली बजाने लगी—'वह छोटी मोटर आती है......वह छोटी मोटर आती है...वह...'

और मेरे निद्रालस कानों में कुछ ऐसे सुनायी दिया—'वह छोटी मोटर आती है...वह मोटा इंजन चलता है...वह छोटी मोटर आती है...वह मोटा इंजन चलता है...।' झुँझलाकर मैं उठा और मैंने धीमी आवाज़ में कड़ककर कहा, "चुप रहो !" और फिर मैंने सोने की कोशिश की।

लड़कियाँ चुप हो गयीं या शायद मोड़ के कारण मोटर और इंजन ओझल हो गये, लेकिन कुछ देर बाद मुझे सोया जानकर दोनों फिर चिल्लाने लगीं :

जायें तो जायें कहाँ,
समझेगा कौन यहाँ।
दर्द भरे दिल की ज़बाँ ॥

आख़िर मैं उठा, मुँह पर हाथ फेरकर मुड़ा और मैंने भल्ला साहब से कहा, "आपकी लड़कियाँ ख़ूब गाती हैं साहब ! इन्हें किसी ऐसे स्कूल में भरती कराइए, जहाँ इनकी प्रतिभा को उचित विकास का अवसर मिले।"

भल्ला साहब ने मेरी ओर देखा और बोले, "मेरा अपना यही ख़याल है, लेकिन अभी तो ये पड़ोस के सिनेमा ही से शिक्षा पाती हैं।"

उनकी यह बात सुनकर चोपड़ा साहब ने ठहाका लगाया। मेरी तरह शायद वे भी सोने की कोशिश कर रहे थे और कनसुरी लड़कियों का भद्दा,

कर्कश स्वर उनकी नींद को झकझोर रहा था। हँसकर और पीछे मुड़कर भल्ला साहब की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "आप इन्हें ऑल इण्डिया रेडियो में बच्चों के प्रोग्राम में भेजिए।"

अबकी साली महोदया बोलीं, "रेडियो के प्रोग्राम-असिस्टेण्ट तो हमारे नज़दीक ही रहते हैं। लड़कियाँ दिन-भर गाती रहती हैं। इनका गाना सुनकर उन्होंने कहा कि ये रेडियो की बड़ी अच्छी आर्टिस्ट सिद्ध होंगी, पर जीजा जी मानते ही नहीं।"

इस पर जीजा जी अपने मोटे, पंजाबी कुलचे-जैसे गोल गुलगोथने मुख से मुस्कराते हुए बोले, "हमारा घर ज़रा रेडियो से दूर पड़ता है, एक हिलमैन ले लें तो भेजा करेंगे।" और उन्होंने प्यार से छोटी लड़की को खींचकर अपनी गोद में ले लिया और बोले, "सुनाओ न बेटी वह गाना—

दूर कोई गाये, धुन यह सुनाये—
तेरे बिन छलिया हो, बाजे न मुरलिया हो।"

और बेटी प्रसन्न और प्रोत्साहित होकर चिंघाड़ने लगी।

मैंने सिर पीट लिया। सोने का ख़याल एकदम छोड़कर मैं बाहर के बदलते दृश्यों को देखने लगा।

शाम को छः बजे के क़रीब बटोत पहुँचे। मैं बहुत थका हुआ था, एक तो रात नींद न आयी थी और दूसरे बस में जो एक-आध घण्टा आँख लगती, वह लता मंगेशकर के कान काटने वाली भल्ला साहब की उन सुपुत्रियों ने चौपट कर दी थी। बस जिस होटल के सामने जाकर रुकी, उसी में रात के लिए एक कमरा मैंने तय कर लिया। दो चारपाइयाँ थीं, बरामदा था, बहुत रोशन न था, न बहुत खुला, लेकिन सुबह गर्म पानी मिल सकता था। चाय पीने या खाना खाने के लिए दूर जाने की ज़रूरत न थी, किराया भी अढ़ाई रुपया था। सो हमने तय कर लिया कि यहीं रहेंगे और चाय का आर्डर दे दिया।

भल्ला साहब अपनी साली और बच्चियों-समेत ज़रा देर में उतरे और उन्होंने पहले पिछले होटलों में देख लेना ज़रूरी समझा। चोपड़ा साहब और उनके परिवार को भी वे साथ ले गये। हम कमरे में सामान आदि रखवाकर

आधी चाय पी चुके थे, जब वे पतलून में हाथ दिये उन सबके आगे-आगे हमारे होटल की सीढ़ियाँ चढ़े। वे दोहरे शरीर के गोरे-मोटे, मँझले क़द के आदमी थे, उनके गोल-गोल, मोटे गाल, ऐसे चमकते थे जैसे वे उन पर रोज़ मक्खन की मालिश करते हों। खुले गले की कमीज़ और गहरी हरी कार्डराय की पैंट उन्होंने पहन रखी थी। यदि उनकी अधेड़ उमर की बिलकुल पुरानी तर्ज़ की बीवी, पढ़ी-लिखी होने के बावजूद अनपढ़ दिखायी देने वाली साली और मैले, गन्दे चेहरे वाली बच्चियाँ उनके साथ न होतीं तो वे अच्छे-ख़ासे अफ़सर लगते। पर तब हिलमैन कार ख़रीदने की जो बात उन्होंने की थी, उसे याद कर मैंने सोचा कि नौ-दौलते सेठ हैं, जो स्वयं तो कुछ सुसंस्कृत हो गये हैं, पर उनके घर वाले उसी कीचड़ में कलाबाज़ियाँ लगा रहे हैं।

"कहिए आर्टिस्ट साहब, आपने कहाँ कमरा लिया है?" सीढ़ियाँ चढ़ते हुए भल्ला साहब ने कहा।

"अजी फ़िलहाल तो चाय पी रहे हैं," मैं हँसा, "शरीर में कुछ शक्ति आये तो कमरा ढूँढ़ें।"

"लेकिन शाम हो रही है।"

"और कहीं न हुआ तो यहीं पड़े रहेंगे," मैंने थके हुए स्वर में कहा, "सामान यहीं रखवा दिया है। ऊपर अढ़ाई-अढ़ाई रुपये में कमरे मिलते हैं।"

और अपनी पार्टी को लिये हुए भल्ला साहब धड़धड़ाते हुए ऊपर पहुँचे और कुछ देर बाद वापस आकर नाक-भौं चढ़ाते हुए बोले, "बड़े गन्दे और अँधेरे कमरे हैं, आप इनमें कैसे उतर गये!"

और वे आगे कोई अच्छा, हवादार और खुला होटल देखने के ख़याल से चले गये।

उनके जाते ही मेरी बीवी ने शिकायत की, "आप बस यहीं बैठ गये, ज़रा हिम्मत कर आगे-पीछे देखते तो क्या हमें भी कोई अच्छा और सस्ता कमरा न मिल जाता?"

"बीबी जी, झख मारकर ये लोग यहीं आयेंगे।" होटल वाले ने उनकी बात सुनकर कहा, "रेस्ट-हाउस भरा पड़ा है। कुछ तम्बू आगे लगे हैं। पर

एक तो उनमें ठण्ड है, दूसरे किराया फ़ी ख़ेमा तीन रुपये है। हमसे सस्ता और आरामदेह होटल बटोत में दूसरा नहीं मिल सकता। आपको कोई कष्ट हो तो हम हर तरह की सेवा के लिए तैयार हैं, ये लोग डेढ़ रुपये में कमरे चाहते थे। दस मिनट ऊपर बहसते रहे। सारे बटोत में घूम आयें, हमारे होटल से सस्ती जगह इन्हें कहीं नहीं मिल सकती।"

और होटल वाले की बात ठीक थी। कोई आध-एक घण्टे के बाद भल्ला साहब अपनी पार्टी के साथ वापस आ गये। हम पर अहसान जमाते हुए उन्होंने कहा, "लीजिए आर्टिस्ट साहब, हम भी यहाँ आ गये।" और फिर उन्होंने चोपड़ा आदि की ओर इशारा करते हुए कहा, "ये लोग ज़्यादा खुला और हवादार कमरा चाहते थे, पर मैंने इनसे कहा कि सफ़र में हमेशा इकट्ठे रहना चाहिए। इसलिए सोचा कि जहाँ आप ठहरे हैं, वहीं हम ठहरें।"

और वे होटल वाले को एक ओर ले गये और पन्द्रह-बीस मिनट तक उसके साथ सरगोशियों में झगड़ते रहे। एक बार हमने उनकी आवाज़ सुनी —"तो हम सामने चले जायेंगे, यहाँ से कहीं बड़े कमरे हैं।"

लेकिन होटल वाला टस-से-मस न हुआ, आख़िर उन्होंने एक कमरा ले लिया।

"और चारपाई दरकार हो तो चार आना फ़ी चारपाई मिल सकती है।" होटल वाले ने वापस आते हुए कहा।

"हम तो वे भी निकाल देंगे," ऊपर कमरे की ओर जाते हुए उन्होंने कहा, "खटमलों में हमें कभी नींद नहीं आती।" और फिर मेरी ओर देखकर बोले, "आप भी आर्टिस्ट साहब, फ़र्श पर ही बिस्तर लगाइएगा।"

चोपड़ा साहब दिल्ली के एक प्रसिद्ध अँग्रेज़ी-दैनिक के सम्पादन-विभाग में काम करते थे, अच्छा वेतन पाते थे और मेरा ख़याल था कि भल्ला और चोपड़ा साहब ने अलग-अलग कमरे लिये होंगे, लेकिन सुबह पता चला कि भल्ला साहब ने उन्हें मजबूर कर दिया था कि वे उन्हीं के साथ रहें। "अरे भाई आप चारपाइयों पर सोना चाहते हैं, आप अन्दर कमरे में सोइए। हम बरामदे में बिस्तर लगा लेंगे, हम तो यों भी खुली हवा पसन्द करते हैं।",

उन्होंने कहा था और चोपड़ा साहब को ज़बरदस्ती अपने साथ ही रात काटने पर विवश कर दिया था। और इस तरह दोनों ने सवा-सवा रुपये में मज़े में रात काट ली थी।

खाना भी उन्होंने होटल में न खाया था। जब हमने उनसे कहा कि खाना इस होटल में बहुत अच्छा मिलता है तो वे बेपरवाही से बोले थे कि वे अँगीठी-कोयले साथ लाये हैं, इसलिए मज़े से अँगीठी जलायेंगे, पराँठे बनायेंगे, मुर्ग़ तो सस्ते मिलते हैं, मुर्ग़ पकायेंगे और जशन मनायेंगे।

बानिहाल तक तो भल्ला साहब से मुझे कुछ ईर्ष्या थी, पर वैरीनाग पहुँच-कर पता चल गया कि ढोल के अन्दर कितना पोल है। वैरीनाग कश्मीर के सुन्दरतम झरनों में से है। सरकारी बस का ड्राइवर एक-एक रुपया फ़ी सवारी ज़्यादा लेकर, उधर से बस घुमाकर ले जाने को तैयार हो गया। हम वहाँ पहुँचे तो पूर्ववत् भल्ला साहब सब से आगे-आगे जेहलम का वह स्रोत देखने चले। वहाँ बावली पर एक मन्दिर भी है। हम झरने के निकट पहुँचे तो बाहर से ही एक पण्डित भी गाइड-स्वरूप हमारे साथ हो लिया। भल्ला साहब ही को उसने हममें से सब से सम्पन्न समझा और उन्हीं के पीछे-पीछे 'चश्मा-वैरीनाग' की सब जानने योग्य बातें बताते हुए चलने लगा।

वैरीनाग चारों तरफ़ से घिरा बावली-नुमा अठकोना झरना है। सोता कहीं बहुत नीचे फूटता है और बावली की सतह पर यह भी मालूम नहीं होता कि पानी लगातार नीचे से फूट रहा है, लेकिन बावली से बाहर हर मिनट इतना पानी निकलता है कि जिसमें से न केवल एक बड़े रजबहे-सा जेहलम बहता है, बल्कि छोटे-छोटे बहे और बरहे धान की सिंचाई के लिए भी निकलते हैं।

भल्ला साहब और गाइड के पीछे-पीछे हम भी अन्दर दाख़िल हुए। ज़हर-मोहरे रंग का निर्मल जल, रोटी का टुकड़ा फेंकें तो दूर तक पानी में उतरता दिखायी दे—बेशुमार मछलियाँ—काली-काली, लम्बी-लम्बी, विज़िटरों के साथ-साथ रोटी या बिस्कुट के लालच में सरसराती, तैरती, बिजली की-सी गति से एक से दूसरे किनारे पहुँचने वाली !

गाइड के आगे-आगे बड़े शान से चलते हुए भल्ला साहब ने और उनके

तुफ़ैल हमने भी सब ब्योरे जाने—किस सन् में उसे बनवाया ; जब जहाँगीर वहाँ आते थे तो कहाँ बैठते थे; चश्मा कितना गहरा है आदि-आदि...

सोते की बहार दिखाकर गाइड हमें बाहर ले आया। वहाँ बाग़ की एक ओर उसने हमें एक और सोता दिखाया, जहाँ पानी उबलता हुआ-सा निकल रहा था। वैरीनाग के बाहर का बाग़ बहुत सुन्दर है। बीचोबीच जेहलम बहता है। दोनों ओर घास के मैदान हैं। रंग-बिरंगे फूल और तरह-तरह के फलदार पेड़ हैं और यहीं पहली बार गगन-चुम्बी चिनारों के दर्शन होते हैं। गाइड ने हमें बाग़ की एक-एक चीज़ दिखायी, ख़ून के रंग के कमल, गिलास, चेरी, ख़ूबानी और सेब के पेड़ और फिर वह हमें बाग़ के दूसरे किनारे प्रपात दिखाने ले गया। वास्तव में बाग़ के अन्त पर पहुँचकर जेहलम छोटे-से प्रपात के रूप में गिरता है और वह दृश्य देखने वाली आँख के लिए बहुत सुन्दर है।

हम लोगों ने बाग़ की सैर की, गिलास खाये, फूल तोड़े। भल्ला साहब ने उस बर्फ़-जैसे ठण्डे पानी में स्नानकर शिव की मूर्ति को प्रणाम किया, लेकिन न कुछ दक्षिणा दी, न गाइड को बख़शीश। जब हम बस के लिए चलने लगे तो गाइड बख़शीश के लिए उनके पीछे-पीछे हो लिया। उन्होंने उसे मेरी ओर भेज दिया। वह सारा वक़्त उन्हीं के साथ घूमता रहा था, लेकिन उसकी बदौलत हमें भी वैरीनाग के सुन्दर सोते का राई-रत्ती हाल मालूम हो गया था। मैंने आठ आने उसे दे दिये। उसने पूछा कि यह सब की ओर से है या अकेले मेरी ओर से? मैंने कहा कि यह मेरी तरफ़ से है, उनके उनसे ले लो।

भल्ला साहब तब तक बस में जा बैठे थे। जब तक बस चल नहीं पड़ी, वह पण्डित उनसे निरन्तर बख़शीश माँगता रहा, पर उन्होंने एक पाई भी उसे नहीं दी।

वैरीनाग में ही किसी ने उन्हें नहाते देखकर गोप की उपाधि दे दी और वह उपाधि उन पर ऐसी चिपकी कि भल्ला साहब की जगह वे गोप साहब हो गये।

और यों भल्ला साहब का ज़िक्र आते ही बस से लेकर श्रीनगर के

अमीराकदल तक भल्ला साहब के साथ बीती घड़ियों के सारे दृश्य आँखों के सामने घूम गये। मेरे मित्रों ने श्रीनगर के आर्टिस्टों के नाम कुछ पत्र लिख दिये थे और बस श्रीनगर में पहुँची तो श्री काचरू, श्री बट और श्री सन्तोष—श्रीनगर के तीनों युवा आर्टिस्ट बस के अड्डे पर पहुँचे हुए थे। सामान उतरवाते, बातें करते और वहीं वेटिंग-रूम में चाय पीते-पिलाते हमें देर हो गयी थी।

जब हम ताँगे में टंकी-हाउस की ओर जा रहे थे, जहाँ काचरू साहब रहते थे, तो हमें अमीराकदल के पास गोप साहब का काफ़िला आता दिखायी दिया—आगे-आगे वे स्वयं और उनकी बीवी, फिर उनकी साली और बच्चियाँ, फिर चोपड़ा-परिवार, फिर दिल्ली के चचा-भतीजी—उन सब को शायद उन्होंने अपनी लीडरी में ले लिया था।

हम तो दो दिन काचरू साहब के साथ रहकर एक हाउस-बोट में उठ गये और फिर गोप साहब से हमारी मुलाक़ात नहीं हुई, लेकिन एक दिन अचानक गुलमर्ग में चचा-भतीजी से मुलाक़ात हुई, जिस होटल में हम उतरे, उसी में वे ठहरे हुए थे। बातों-बातों में भल्ला साहब का ज़िक्र चला तो चचा हँसकर बोले, "हमको साहब उन्होंने पहले दिन वह घुमाया कि आज तक टाँगें दुख रही हैं। हमको इस बात का विश्वास दिलाकर कि वे हमें अच्छा और सस्ता कमरा लेकर देंगे, श्रीनगर के आधे होटलों में घुमाते फिरे। हम गठिया के मरीज़, हमारे लिए बार-बार ऊपर-नीचे चढ़ना-उतरना मुश्किल और वे किसी में कुछ दोष निकालें और किसी में कुछ। हम तो साहब ऊब गये। आख़िर हमने कहा कि भाई हम होटल में रहने से बाज़ आये। हमारे लिए ठगे जाना भला, लेकिन यह होटलबाज़ी हमारे बस की नहीं...और हम एक हाउस-बोट में उठ गये।"

अचानक इस बात की याद आ जाने से लिद्दर के किनारे चलते-चलते मैंने चोपड़ा साहब से पूछा :

"आख़िर किस होटल में ठहरे, भल्ला साहब ?"

"होटल में ठहरे !" चोपड़ा साहब ने एक ठहाके के साथ छड़ी घुमाते

हुए एक छोटी-सी पथरी को इतनी ज़ोर से ठोकर लगायी कि वह लिद्दर के पानी में दूर जा गिरी। "रेज़िडेन्सी रोड से अमीराकदल के पार जब सब होटल भल्ला साहब ने देख डाले और उन्हें कोई पसन्द न आया और गर्ग साहब (चचा) अपनी भतीजी को लेकर हाउस-बोट में चले गये तो हम भी उकता गये। लेकिन जिस मित्र ने हमें श्रीनगर में निमन्त्रित कर रखा था, उसका मकान शहर से बाहर था, इसलिए हमने सोचा था कि एक-दो दिन होटल में ही रह लें और इसीलिए हम उनके साथ चल दिये थे। जब हमने कहा कि यार कोई भी कमरा तय कर लो, हम थक गये हैं, बच्ची थक गयी है तो भल्ला साहब हमें एक लाण्डरी में ले गये जिसके प्रोपराइटर के नाम वे दिल्ली से ही चिट्ठी लाये थे। लाण्डरी वालों ने जिन दो-चार होटलों का पता दिया, उनमें हम पहले ही हो आये थे। तब भल्ला साहब ने कहा कि एक चिट्ठी वे दूसरे लाण्डरी वाले के नाम भी लाये हैं...लेकिन साहब, हम तो इतने से ही ऊब गये। हमने ताँगा लिया और अपने मित्र के यहाँ जा पहुँचे।"

"लेकिन लाण्डरी वालों से भल्ला साहब की कैसे दोस्ती थी?" मैंने सहसा पूछा।

"वह खुद जो लाण्डरी वाले हैं," चोपड़ा साहब ने ठहाका लगाया, "दिल्ली में उनकी बड़ी भारी लाण्डरी है।"

"भाभी कहती थीं कि उन्होंने जान आफ़त में कर दी, तो क्या आप लोग इकट्ठे रहे थे?"

"अरे कहाँ साहब," चोपड़ा साहब एक दूसरी पथरी को ठोकर लगाते हुए बोले, "दो दिन हम अपने उन मित्र के यहाँ रहे, लेकिन वह जगह शहर से इतनी दूर थी कि दो ही दिनों में ऊब गये, तब हमारी भेंट एक दूसरे मित्र से हुई, जिनका एक मकान अमीराकदल में था। उसके दो कमरे ख़ाली थे। ज़ोर देकर वह हमें अपने यहाँ ले गये। एक दिन भल्ला साहब अपनी बीवी और साली समेत हमें मिले, मैंने पूछा, 'कहिए किस होटल में टिके हैं?'

'हम तो चार आने रोज़ ख़र्च करते हैं और मज़े से श्रीनगर के आनन्द लूट रहे हैं।'

"मैंने आश्चर्य प्रकट किया तो गोप साहब ने बताया कि दो दिन तो उन्होंने अमीराकदल के गुरुद्वारे में काटे। जब ग्रन्थी किसी तरह भी दो दिन से ज़्यादा वहाँ टिकाने को तैयार न हुआ तो वे माईसुमा बाज़ार में, मेजेस्टिक होटल के पास अपने एक लाण्डरी वाले मित्र के यहाँ चले गये। उसकी लाण्डरी ऊपर की मंज़िल में है। साथ छोटी-सी बालकनी है, बस सामान उन्होंने वहाँ टिका दिया, दुकानें तो वहाँ नौ बजे बन्द हो जाती हैं। उधर कचहरी का दरवाज़ा है जो छः बजे बन्द हो जाता है। भल्ला साहब रात को नीचे फ़ुटपाथ पर सो जाते। सुबह दो आने कुली को देते, वह बिस्तर ऊपर उठाकर बालकनी में रख देता। दो आने सुबह और दो आने शाम, बस चार आने में उनका काम बन जाता।

"गोप साहब यह बता चुके तो उनकी साली चहकीं—'इतना सस्ता होटल कहिए कहाँ मिलेगी?'

'हाँ, इतना सस्ता तो सारे श्रीनगर में नहीं मिल सकता,' मैंने दाद दी, 'लेकिन नहाने-धोने और नित्य-कर्म से निवृत्त होने में आपको कठिनाई होती होगी।'

'अरे यहाँ क्या, हम तो दिल्ली-जैसे शहर में भी प्रातः उठकर बाहर खेतों में जाते हैं।' भल्ला साहब ने गर्व-भरे स्वर में कहा।

'लेकिन यहाँ भी खेत कोई इतने पास नहीं।' मैंने आपत्ति की।

"तब भल्ला साहब ने बताया कि उनके सारे ख़ानदान को नूर के तड़के उठने की आदत है। उनकी और उनकी बीवी की आँख न खुले तो बच्चियाँ जगा देती हैं। सुबह तड़के उठकर, दो-अढ़ाई मील की मंज़िल मारकर वे शंकराचार्य जाते हैं। वहाँ निबट-निबटा भी आते हैं और भगवान् शंकर के दर्शन भी कर आते हैं। पहाड़ी से नीचे उतर, डल में स्नान भी करते हैं और वहीं से कपड़े भी धो लाते हैं।"

'लेकिन इतनी दूर आप क्यों जाते हैं," मैंने कहा, "जेहलम में क्यों नहीं

नहाते ?'

'जेहलम का पानी बड़ा गन्दा है।' साली साहबा ने नाक-भौं चढ़ायी।

"लेकिन दूसरे ही दिन उन देवी जी के मुँह से निकल गया कि जेहलम में जो लकड़ी के स्नानगृह बने हैं, उनमें कश्मीरी माँझी औरतें ही नहा सकती हैं। बाहर वालों का तो दम निकल जाय।

और मालूम हुआ कि कभी-कभी वहाँ वे स्नान कर आती हैं।"

मैं चुपचाप चोपड़ा साहब की बातें सुनता रहा था। हालाँकि भल्ला साहब का कुछ रंग मैंने रास्ते में बस ही में देख लिया था तो भी जैसे विश्वास न हुआ। मैंने कहा, "मुझसे तो कहते थे कि श्रीनगर में हाउस-बोट में टिकेंगे। रोज़ मुर्ग़ भूनेंगे और तन्दूर के लगे हुए पराँठे मँगायेंगे।"

"अरे वे क्या मुर्ग़ खाते, उनके दादा-परदादा ने न चखे होंगे।" चोपड़ा साहब जलकर बोले, "मेरे साथ दस दिन रहे, मैं अच्छी तरह जानता हूँ, जो वे खाते हैं।"

"आपके साथ ?"

"बात यह है कि एक दिन वे हमें हमारे घर पर मिलने आ गये। मेरे पास दो कमरे थे। वास्तव में मेरे मित्र के कोई मेहमान आने वाले थे और उन्हें आने में कोई पन्द्रह-एक दिन की देर हो गयी थी और मित्र ज़ोर देकर हमें पन्द्रह दिन के लिए वहाँ ले आये थे। कमरे बड़े कुशादा और खुले थे। गोप साहबकी तो आँखें खुली रह गयीं, कहने लगे, 'आपके तो बड़े मज़े हैं।' मेरे मुँह से निकल गया, 'आपको वहाँ कष्ट हो तो शौक से आ जाइए। और दस दिन तक ये कमरे मेरे पास हैं। एक आप ले लीजिए।'

"मैंने तो योंही कहा था लेकिन गोप साहब उसी वक्त जाकर सामान ले आये। वे तो रसोई भी वहीं पकाना चाहते थे, लेकिन रसोई-घर वहाँ था नहीं और मैंने मित्र की उदारता का अनुचित लाभ उठाना उचित नहीं समझा और उन्हें कोयले वाली अँगीठी भी नहीं जलाने दी। उन्होंने नीचे फ़ुटपाथ पर भी खाना पकाने का प्रस्ताव किया। कहने लगे कि पिकनिक का तो यही मज़ा है कि सरे-सड़क खाना पकाया जाय। यद्यपि मैं स्वयं उस तरह की फक्कड़बाज़ी में

विश्वास रखता हूँ, लेकिन मुझे उनका नीचे सड़क पर खाना पकाना अपने मित्र का अपमान करने के बराबर लगा। सो वे सामने प्यारासिंह के ढाबे पर जाकर सुबह-शाम पाँच आना थाली खाना खा आते थे। पति, पत्नी और साली तीन थालियाँ मँगाते और बच्चियों को साथ खिला लाते। हमको भी एक बार साथ ले गये, लेकिन भाई हमारे बस का तो था नहीं वह खाना। हम तो 'मेजेस्टिक' में खाते थे। प्यारासिंह के ढाबे पर जब-जब हमने खाया, हमेशा गोप साहब से कहा कि भाई हमें तो पराँठे और स्पेशल मँगा दो। यह उरद की दाल हमारे बस की नहीं।"

"प्यारासिंह के ढाबे में तो हमने भी खाया है," मैंने कहा, "मुर्ग़ तो वहाँ बहुत अच्छा बनता है। आठ आने में आधी प्लेट मिल जाती है और अढ़ाई रुपये में मुर्ग़-मुसल्लम।"

"मैंने भल्ला साहब से पूछा था," चोपड़ा साहब बोले, "कि यहाँ तो सस्ता मिलता है, आप क्यों नहीं लेते, तब उन्होंने फ़र्माया था कि मुर्ग़ तो दिल्ली में भी मिल जाता है, कश्मीर में तो फल खाने चाहिएँ।"

"दुकान तो एक पूरी-की-पूरी रोज़ खा जाते होंगे," मिसेज़ चोपड़ा हँसीं, "हमने तो भाई साहब, एक ख़ूबानी भी उनके हाथ में नहीं देखी।"

और हम सब हँस दिये।

"लेकिन मोटे तो गोप साहब ख़ूब हैं।" मैंने कहा।

"उरद की दाल खाकर फूल गये हैं।" चोपड़ा साहब ने अतीव उपेक्षा से कहा।

कुछ क्षण हम चुपचाप चलते रहे। लिद्दर पर नया पुल बन रहा था। लोहे के मोटे-मोटे रस्सों पर टिका था और सरकारी आदेश था कि एक वक्त में एक आदमी ही पार जाय। हम एक एक कर चले। नीचे लिद्दर का पानी उद्दाम बह रहा था—पत्थरों से टकराता, झाग उड़ाता, उन्मुक्त! पानी क हरियाली या नीलाहट कहीं भी दिखायी न देती, बस उबलती हुई पिघली चाँदी-सा लिद्दर पहलगाम के सीने पर उड़ा जा रहा था।

जब हम पुल के पार पहुँच गये तो मैंने पूछा, "पहलगाम में भल्ला साहब कहाँ रहे ?"

"रहे !" चोपड़ा साहब हँसे, "जब हम श्रीनगर से चलने लगे तो पहले तो वे कमरा ही ख़ाली करने को तैयार न हुए, कहने लगे कि आप तो जा ही रहे हैं, हम आप वाले कमरे में रह लेंगे, लेकिन मित्र के मेहमान आ गये थे, उन्होंने हमें पहले ही कह दिया था कि पन्द्रह दिन से ज़्यादा वे हमें कमरे न दे सकेंगे। सो बड़ी मुश्किल से वे वहाँ से उठने पर राज़ी हुए, लेकिन जब उन्होंने सुना कि हम पहलगाम जा रहे हैं और हमें उम्मीद है कि वहाँ एकाध कमरा मिल जायगा तो उन्होंने झट पहलगाम आने का प्रोग्राम बना लिया, कहने लगे—'पहलगाम बहुत अच्छी जगह है। कश्मीर आयें और पहलगाम न देखें तो कश्मीर आना बेकार है। हम तो वहाँ बीस दिन रहने का प्रोग्राम बना रहे हैं।' श्रीनगर में विज़िटर्स ब्यूरो के डिप्टी डायरेक्टर मेरे मित्र हो गये थे, उन्होंने कहा था कि उनके अधीन पहलगाम का एक क्लर्क है, जिसका अपना घर वहीं है। उसमें एक कमरा मैं आपको दिलवा दूँगा। बातों-बातों में भल्ला साहब से मैंने इस बात का ज़िक्र कर दिया और मैं तो पीछे बनाता, उन्होंने पहले ही पहलगाम आने का प्रोग्राम बना लिया।"

"डिप्टी डायरेक्टर आपसे कैसे परिचित हो गये—कुछ पहले का परिचय था ?"

"नहीं साहब," चोपड़ा साहब हँसे, "बड़ी मज़ेदार बात है। श्रीनगर में रहने का ठिकाना पक्का तो था नहीं। यह ठीक है कि दो-एक मित्रों ने बुलावा दे रखा था, एक-दो मित्रों ने अपने कश्मीरी मित्रों के नाम चिट्ठियाँ भी दे दी थीं, लेकिन कौन-सी जगह हमारे लिए ठीक होगी, इसका कोई भरोसा न था। सो मैं चिट्ठी-पत्री के लिए विज़िटर्स ब्यूरो का पता दे आया था। बस से उतरते ही जब मुझे पता चला कि ब्यूरो का दफ़्तर सामने ही है तो मैंने सोचा कि पहले वहीं हो लूँ। वहाँ चपरासी ने जिस कमरे की ओर संकेत किया, वह डिप्टी साहब का कमरा था। सूट-बूट में लैस एक अफ़सर मेज़ पर बैठे दो-एक ऐसे व्यक्तियों से बातचीत कर रहे थे, जो या अफ़सर थे या अफ़सरों के

रिश्तेदार। उन्हें निबटाकर वे मेज़ से समाचार-पत्र उठाकर देखने लगे। मेरे आने का उन्होंने कोई नोटिस न लिया। बात यह थी कि सफ़र से आने के कारण कपड़े ख़ासे गन्दे हो रहे थे। आप लोगों ने तो बटोत में स्नानकर कपड़े बदल लिये थे, लेकिन हमसे तो सुबह-सुबह उस ठण्डे पानी में नहाया न गया......"

"लेकिन गर्म पानी की बाल्टी तो वहाँ चार आने में मिलती थी।" मैंने टोका।

"हम तो गर्म पानी की दो बाल्टियाँ मँगाने वाले थे, लेकिन भल्ला साहब ने रोक दिया। बोले, 'वहाँ चश्मा वैरीनाग में नहायेंगे, ऐसा स्वास्थ्यकर पानी है वैरीनाग का कि बड़े-बड़े पुराने रोग उस पानी से कट जाते हैं।' लेकिन जब वैरीनाग पहुँचकर बाहर बाग़ के रजबहे में हमने हाथ डाला तो लगा जैसे हाथ ही झड़ गया। भल्ला साहब ने तो उस पानी में नहाकर कपड़े बदल लिये, हमारा तो साहस नहीं हुआ......कपड़े मेरे मैले ही थे। मैंने उन डिप्टी साहब से अँग्रेज़ी में कहा, 'मैं ज़रा आपको कष्ट देने आया हूँ।'

उन्होंने बिना समाचार-पत्र से आँखें उठाये उत्तर दिया, 'कहिए।'

तब मैंने अपनी बात कही। बोले, 'मैं बहुत व्यस्त हूँ।' और उन्होंने चपरासी से कहा कि इन साहब को क्लर्क के पास ले जाओ।

मेरा ख़ून खौल गया, मैंने कहा, 'आप किस काम में व्यस्त हैं?'

उन्होंने अख़बार आगे से हटाया। मैंने कहा, 'मेरे एक मित्र ने कश्मीर के विज़िटर्स ब्यूरो की बड़ी तारीफ़ की थी। मुझे मालूम न था कि यहाँ के अफ़सर इतने असभ्य हैं कि वे किसी विज़िटर की ओर आँख उठाकर देखना भी अपनी व्यस्तता में ख़लल समझते हैं।'

अँग्रेज़ी समाचार-पत्र का मैं सम्पादक। अँग्रेज़ी मेरे घर की लौंडी। मेरी फ़र्राटेदार अँग्रेज़ी सुनकर वे चकराये और खीझकर बोले, 'आपके मित्र ने यह भी कहा था कि विज़िटर्स ब्यूरो डाकख़ाने का काम भी करता है?' मैंने कहा, 'अगर किसी विज़िटर ने भ्रमवश ऐसा समझ ही लिया तो ब्यूरो का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह भरसक उसे सहायता दे। एक क्लर्क की यह ड्यूटी लगायी

जा सकती है। मैं अपने अख़बार में बाक़ायदा अपने संस्मरण भेजने वाला हूँ। मेरा ख़याल था कि मैं विज़िटर्स ब्यूरो की प्रशंसा से शुरू करूँगा पर लगता है कि ......

डायरेक्टर साहब का चेहरा एकदम बदल गया।

'आप तशरीफ़ रखिए!' उन्होंने कुर्सी से लगभग आधे उठते हुए कहा। उनका सारा रवैया ही बदल गया। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं 'दिल्ली टाइम्स' के सम्पादन-विभाग में हूँ तो न केवल उन्होंने मेरे पत्रों को स्वयं सम्हालकर रखने का आश्वासन दिया, बल्कि चाय भी पिलायी।

इसके बाद मैं कई बार उनसे मिला। ख़ासी घनिष्ठता हो गयी। अपने काम और कठिनाइयों का विस्तृत ब्योरा उन्होंने मुझे दिया। मैंने एक लेख भी लिखा। जब मैंने पहलगाम आने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने एक कमरा मुझे ले देने का वचन दिया। पहले उनका इरादा केवल चिट्ठी देने का था। फिर उन्होंने स्वयं भी पहलगाम का प्रोग्राम बनाया और मुझे यहाँ हर तरह से सन्तुष्ट देखकर वापस गये।"

हम लिद्दर के दूसरे किनारे काफ़ी दूर वापस चले आये थे। आगे रास्ता पहाड़ से आने वाले एक छोटे-से नाले के कारण बन्द था। पानी सारे किनारे पर फैल गया था। हम कुछ नीचे उतरकर पत्थर-पत्थर कूद, आगे बढ़े। बातें करते हुए गिर न जायें, इस ख़याल से चोपड़ा साहब कुछ क्षण के लिए चुप हो गये। फिर नाला पार कर वे बोले, "अब यहाँ की सुनिए। गोप साहब यहाँ भी आकर गुरुद्वारे में ठहरे। यहाँ वही दो दिन ठहरने का नियम......उन्होंने बहुतेरे हाथ-पाँव जोड़े, पर यहाँ भी ग्रन्थी टस-से-मस न हुआ। तब वे मेरे पास आये। बोले, 'यार यह कमरा तो बहुत बड़ा है, हम यहीं न चले आयें?' मैंने साफ़ कह दिया कि भाई, यह मेरे मित्र का नहीं, मेरे मित्र के मित्र का घर है, मैं किसी दूसरे परिवार को यहाँ कैसे ठहरा सकता हूँ। बोले, 'आप हमें दूसरा समझें, हम तो आपको अपना ही समझते हैं।' मैंने कहा, 'यह तो ठीक है, लेकिन दूसरे तो ऐसा नहीं समझ सकते...' और मैंने दूसरी दलील

दी, 'श्रीनगर में तो दूसरा कमरा था, यहाँ एक ही कमरा है। आपको भी दिक़्क़त होगी और हमको भी।' तब कहने लगे, 'हमारी दिक़्क़त की आप चिन्ता न कीजीए, हाँ, हमारे कारण आपको कठिनाई ज़रूर होगी।' मैंने कहा, 'कठिनाई की बात नहीं, यह कुछ ठीक नहीं लगता, पास ही वज़ीर होटल है, एक एक रुपये में कमरा मिल जायगा। आप कहिए तो मैं वहाँ प्रबन्ध करा दूँ।' तब नाक-भौं चढ़ाकर वे बोले, 'वज़ीर होटल के कमरे बड़े तंग और सीलन-भरे हैं। होटल में रहेंगे तो फिर पहलगाम होटल में रहेंगे। पाँच रुपये रोज़ किराया तो है, लेकिन कमरे बड़े खुले हैं। और पिछली तरफ़ से लिद्दर का बड़ा ही सुन्दर नज़ारा दिखायी देता है।' मैंने कहा, 'पहलगाम होटल से उस कमरे का क्या मुक़ाबिला?"

"फिर वे गये वहाँ?" सहसा मैंने पूछा।

"अरे साहब ये लोग दालिये हैं दालिये!" चोपड़ा साहब ज़ोर से ठहाका मारकर हँसे।

"दालिये!" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"अजी आर्टिस्ट साहब, यहाँ ऐसे विज़िटरों को उपेक्षा से कश्मीरी लोग 'दालिये' कहते हैं। कश्मीरी शब्द तो 'दालि-विज़िटर' है, पर मतलब उसका दालिये ही है—तन्दूर की रोटी और मुफ़्त की दाल खाकर ये लोग कश्मीर की जन्नत के मज़े लूट जाते हैं। अगर सभी विज़िटर ऐसे आने लगें तो कश्मीर के ये बादाम और अख़रोट, आड़ू और ख़ूबानियाँ, सेब और बग्गूगोशे, साल-दुशाले, वुड-कट और पेपर-मैशी—ये सब कौन ख़रीदेगा?"

"आप ठीक कहते हैं।" और इस बार चोपड़ा साहब के साथ मैं भी हँसा।

"अब मैं आपसे क्या कहूँ," चोपड़ा साहब अपनी रौ में बोले, "उन्होंने तो श्रीनगर में मुझे भी शर्मिन्दा कर दिया था। उन्हीं दिनों जब ये मेरे साथ रहते थे, एक दिन बोले कि आइए आपको निशात और शालामार की सैर करायें। हम तैयार हो गये। सीज़न का ज़ोर, तेरह-चौदह रुपये से कम में कोई शिकारा ले जाने को तैयार न हुआ। बड़ा भाव-ताव कर के बे-गद्दी का एक शिकारा दस रुपये में तय किया। पहले शालामार, फिर निशात, फिर चश्माशाही और

आते-आते नेहरू पार्क गये। जब वापस अमीराकदल पहुँचे तो रात के नौ बज चुके थे। शिकारा छोड़ा तो पैसे निकालते-निकालते सड़क तक आ गये। शिकारे वाला लगातार कहता आया—'हुजूर बड़ी मेहनत की है, कुछ बख़शीश भी मिलनी चाहिए।' आपने जेब से पाँच रुपये का एक नोट निकाला और उसके हाथ पर रख दिया, शिकारे वाले ने सोचा कि दस का नोट और देंगे, पर जब वे चलने लगे तो उसने दस और माँगे। (तय तो दस ही किये थे, पर मेहनत बहुत हो गयी थी।) तब गोप साहब बोले, 'अरे जाओ यार, एक रुपया ज़्यादा दे दिया, पिछले इतवार हम चार रुपये में गये थे।"

'चार रुपये तो बाबू जी नेहरू पार्क तक के ले लेते हैं, आपको तो सारी दुनिया घुमा दी।' शिकारे वाला गुस्से में बोला।

काफ़ी खिट-खिट हुई, पर भल्ला साहब टस-से-मस न हुए। बाज़ार निकट, बाँध पर काफ़ी लोग इकट्ठे हो गये। तब साली साहबा ने ब्लाउज़ से दो रुपये का नोट निकालकर फेंकते हुए नक्की आवाज़ में कहा, 'ये लो बख़शीश, अब जाओ।'

वह कैसे जाता। उसने भल्ला साहब की आस्तीन पकड़ ली। बड़ी बेशर्मी से भल्ला साहब बोले, 'हमारे पास कुछ नहीं है, तुम चाहे जो कर लो।' और उन्होंने पतलून की जेबें बाहर निकाल दीं।

मेरे लिए खड़े रहना मुश्किल हो गया। जेब से तीन रुपये निकालकर मैंने उसे दिये और पीछा छुड़ाया।

घर पहुँचकर गोप साहब मुझसे कहने लगे, 'आपने नाहक पैसे दिये। पैण्ट की जेबें ख़ाली थीं, पर कोट की भीतरी जेबों में पाँच सौ के नोट थे। ये कमबख़्त मुसाफ़िरों को लूटते हैं। आप बीच में न पड़ते तो वह चुपचाप चला जाता।'

हम लिद्दर के दूसरे पुल पर आ पहुँचे। कश्मीरी गूजरों का एक दल उधर से चला आ रहा था—शायद कहीं काम लग रहा था और सब वहीं जा रहे थे। उन्हें रास्ता देने के लिए हम एक ओर खड़े हो गये। चोपड़ा साहब ने

अपनी कहानी का तार फिर पकड़ा ।

"पहलगाम होटल में जाने वाले होते तो क्या गुरुद्वारा में ठहरते," वे बोले, "दूसरे ही दिन कहने लगे, 'हम जा रहे हैं।' मैंने कहा कि आप तो बीस दिन ठहरने वाले थे। बेपरवाही से वे बोले, 'पहलगाम होटल में कमरा तो ले लिया था, रहने का सब तय हो गया था, लेकिन रात अचानक मिसेज़ के पेट में दर्द हो गया। मुझे भी कुछ तकलीफ़ रही। यहाँ का पानी हमें सूट नहीं करता।'...और बीस दिन के प्रोग्राम को काटकर वापस चले गये।"

"लेकिन लगते तो अच्छे-ख़ासे सेठ हैं।" मैंने कहा।

"सेठ तो हैं ही। दिल्ली में इनका अपना एक मकान है, अभी पिछले साल पचास हज़ार में बनवाया है। हमारी कॉलोनी में है, हमारे ही मकान जितना बड़ा है।"

"आपका भी मकान है?"

"जी हाँ पटेल नगर में बनवाया है, पैंतालीस हज़ार में। ऊपर हम रहते हैं, नीचे का हिस्सा दो सौ रुपये में उठा रखा है।"

गूजरों के निकल जाने पर हमने पुल पार किया। पुल के पार, किनारे पर कुछ लोग कपड़े धो रहे थे, कुछ तेल की मालिश कर रहे या नहा रहे थे। इधर ख़ेमे नहीं थे, लेकिन नहाने और कपड़े धोने वालों की ख़ासी भीड़ थी। चोपड़ा साहब ने बताया कि वे कहाँ नहाते और कहाँ कपड़े धोते हैं। उन्होंने मुझे भी परामर्श दिया कि हम भी वहीं आकर नहायें और कपड़े धोयें।

"पर धोबी दो आने फ़ी कपड़ा लेते हैं," मैंने कहा, "और यही रेट दिल्ली में भी है।"

"अजी आर्टिस्ट साहब, ये लोग ब्लीचिंग-पाउडर लगाते हैं," चोपड़ा साहब ने बड़े उस्तादाना ढंग से मेरी ओर देखते हुए कहा, "कपड़े की उमर घट जाती है। हम तो दिल्ली में भी नहीं धुलवाते। घर ही पर धोकर प्रेस कर लेते हैं।"

वज़ीर होटल के पास उन्होंने छुट्टी चाही। हाथ मिलाते हुए मैंने पूछा, और कब तक रहने का इरादा है?"

बोले, "हम तो दो-चार दिन के लिए ही आये थे, पर इन मित्र से घर वाला सम्बन्ध हो गया है, जाने ही नहीं देते। ख़याल है, सात-आठ दिन और रहेंगे। सोचते हैं, कोई अच्छा साथी मिल जाय तो अमरनाथ और कोलोहाई ग्लेशियर तक हो आयें।"

शाम को हम बाहर जाने वाले थे कि चोपड़ा साहब के मित्र, विज़िटर्स ब्यूरो वाले आर्टिस्ट आ गये—बड़े सज्जन और बड़े भले। उन्होंने अपने कुछ चित्र दिखाये, मुझसे राय ली। बातों-बातों में चोपड़ा साहब का ज़िक्र हो आया। मैंने कहा, "वे आपके स्वभाव की बड़ी प्रशंसा करते थे।"

तब अचानक वे फट पड़े, "मैं तो आपसे इसी सिलसिले में मिलने आया था। ग़रीब आदमी हूँ। दो-एक कमरे सीज़न में किराये पर देता हूँ तो घर का ख़र्च चलता है। ये साहब मेरे अफ़सर को लेकर आये कि दो दिन रहेंगे। सात दिन हो गये हैं, हिलने का नाम ही नहीं लेते। इशारे करता हूँ, समझते नहीं। आप ही राय दीजिए, कैसे इनसे मुक्ति पाऊँ।"

खिलौने

जब सुबह का धुँधला प्रकाश आस-पास के ऊँचे मकानों को पार करके अहाते में से होता हुआ उसकी अँधेरी कोठरी तक पहुँचा तो बूढ़े खिलौने वाले ने आँखें खोलीं। सुबह के भिनसारे में उसके इर्द-गिर्द बिखरे हुए खिलौनों के ढेर सागर के पानी में से धीरे-धीरे उठती हुई चट्टानों की तरह दीख रहे थे। अपने डोलते-से हाथ धरती पर टिकाकर वह उठ बैठा। वहीं बैठे-बैठे, कमज़ोरी के कारण हिलते-डोलते उसने अपनी कमर के मैले-कुचैले अँगोछे को ठीक किया, जिसमें कई पैबन्द लगे हुए थे और जिसका रंग मैल के कारण उसके शरीर तथा उस कोठरी की कालिख ही का अंग बन गया था। फिर अपनी नीम-अंधी आँखों से टटोलकर उसने पास पड़ी लठिया उठायी और उसके सहारे उठ खड़ा हुआ।

कोठरी की चौखट में क्षण-भर को रुककर उसने अपनी मटमैली, प्रायः धूमिल आँखों से अहाते का निरीक्षण किया—यहाँ कोठरी से भी अधिक वीरानी छायी हुई थी। परे कोने में भट्ठी खड़ी थी—बेरौनक और उदास—सन्तान के बाहुल्य से बीमार और पीली पड़ जाने वाली माँ की तरह! इस एक महीने के अन्दर न जाने उसने कितने झोल उतारे थे? पास ही पके लाल, किन्तु टूटे-फूटे, खिलौनों का ढेर लगा था। बायीं ओर चिकनी मिट्टी का तगार था, जिसका तल सूखकर चटक गया था। शेष अहाते में वे सब खिलौने अस्त-व्यस्त बिखरे पड़े थे, जिन्हें उसका बेटा रूप और उसकी बहू कमला दिन-रात के कठोर परिश्रम पर भी तैयार न कर पाये थे। कर भी कैसे पाते? रूप तो मेले से कई दिन पहले दुकानों की नीलामी पर भाइयों से लड़-लड़ाकर, हाथ-पैर तुड़वाकर घर आ बैठा था। कितना समझाया था उसने कि बेटा तू सब

से छोटा है, तुझे छोटा बनकर रहना चाहिए। वे बुरे सही, पर तू क्यों बुरा बनता है। किन्तु उसकी कौन सुनता था ? उसे तो सब मूर्ख, नाकारा और अपाहिज समझते थे।

वहीं चौखट पर खड़े-खड़े उसने देखा—सैनिकों की एक लम्बी कतार रँगी हुई खड़ी है, किन्तु इन पर रोग़न नहीं हो सका। एक ओर घोंसले बने रखे हैं, चिड़ियों का भी ढेर लगा है, किन्तु उन्हें घोंसलों में बैठाया नहीं जा सका। बन्दर और वे तने जिन पर उन्हें कलाबाज़ी लगानी थी, दोनों बिखरे पड़े हैं। फिर आमों, संतरों, नाशपातियों, लोकाटों, सेबों, अंगूरों, मक्की के भुट्टों और बाजरे के सिट्टों के ढेर पड़े हैं—उसके अन्तर की गहराई से एक दीर्घ-निश्वास निकल गया। और फिर लठिया के सहारे वह काँपता-डोलता बाहर की ओर चल पड़ा।

किवाड़ के साथ नुमायशी खिलौने थे। रूप इनमें से कुछेक ही समाप्त करके साथ ले जा पाया था। शेष सब अपूर्ण पड़े थे। पेड़ के तने का एक भाग था जिसकी खोह के मुँह पर एक तोता बैठा था और दूसरा प्रवेश कर रहा था। हिरनों की एक सुन्दर जोड़ी थी—कान उठाये, गर्दन न्योहड़ाये, चौकन्नी और चुस्त ! एक परी थी—पंख पसारे अनजाने आकाशों में उड़ जाने को प्रस्तुत !—अपनी धुँधली पथरायी-सी आँखों से बूढ़े ने उन सब खिलौनों को देखा। यद्यपि ये खिलौने उसी के बनाये हुए साँचों पर उतारे गये थे, लेकिन वह हस्तलाघव और रंगरोग़न की वह सुदक्षता कहाँ ! इनमें से हरेक वह दस-दस बीस-बीस रुपये को बेच आया करता था, किन्तु अब ये कौड़ियों के मोल बिकते थे। उसके ये बेटे—उन्हें भी वह अपने खिलौने ही समझा करता था, पर अब तो उन सब ने उसे खिलौना समझ रखा था—निष्प्राण और निर्जीव-सा खिलौना ! माथे को ठोंककर उसने किवाड़ बन्द किये और ताला लगा दिया।

पड़ोसी बनिये की हवेली के सामने बाजा बज रहा था, शायद बनिया अपने पहलौठी के बच्चे को लेकर बाबा सोडल की मन्नत पूरी करने जा रहा

था। सोडल बाबा हैं जो दूध-पूत के दाता! जब उसके घर कोई सन्तान न हुई थी तो उसने भी सोडल बाबा की मन्नत मानी थी कि जब उसके घर बच्चा होगा तो वह उसे लेकर बाजे-गाजे के साथ सोडल बाबा की सेवा में उपस्थित होगा। और जब उसके घर जग्गू हुआ तो मेले के ग्यारह दिन पहले उसने स्वयं चार प्यालों में गेहूँ बोये थे, प्रति दिन सुबह-शाम उन्हें शुद्ध पवित्र जल से सींचा था और यह देखकर कि पड़ोसियों के प्यालों के पीले ज़र्द अंकुरों की अपेक्षा उसके प्यालों के पौधे गहरे हरे रंग के हैं और दो-दो बालिश्त ऊँचे हैं, ख़ुशी उसके अंगों में समा न पाती थी। इस सब का अर्थ यह था कि सोडल बाबा उस पर ख़ूब प्रसन्न हैं। बाबा की पूजा के निमित्त मठरियाँ बनाने के लिए वह अत्युत्तम गेहूँ लाया था, मोटे-मोटे शर्बती रंग के, सूप में फटककर और पानी में भिगोकर उसने उन्हें बिलकुल साफ़ किया था। फिर ग्यारह दिन उन्हें धूप में सुखाया था। इस बीच में वह स्वयं उनकी रखवाली करता रहा था ताकि देवता के चरणों में चढ़ने से पहले कोई चिड़िया उन्हें जूठा न कर जाय। मेले की पहली रात को उसने स्वयं अपनी पत्नी के साथ बैठकर मठरियाँ, शकरपारे और पपड़ियाँ बनायी थीं और जब मेले के दिन प्रातः दोनों हाथों में पूजा की थाली और गेहूँ के प्याले थामे बाजे के पीछे-पीछे अपनी पत्नी और बच्चे के साथ वह सोडल की पूजा को चला था तो दूध और पूत देने वाले सोडल के प्रति उसका मन श्रद्धा-भक्ति से ओत-प्रोत हो उठा था।

उस दिन की याद आते ही एक काले-कलूटे रोगी-से युवक का चित्र उसकी आँखों के सामने घूम गया, पतले-पतले हाथ-पाँव और तिल्ली के कारण बढ़ा हुआ पेट। यह जग्गू था, उसका पहलौठी का लड़का, जिसके जन्म पर बाजे-गाजे के साथ वह सोडल के मेले पर गया था, जिसके जन्म के साथ ही उसके मन में सुन्दर सपनों ने जन्म लिया था। किन्तु समय के साथ उसके सपने भी जग्गू ही की तरह पीले, बीमार और बेढंगे हो गये थे।

उसने बाबा सोडल की सब मन्नतें मानी थीं और प्रति वर्ष बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा करता रहा था और सोडल बाबा ने भी दूध और पूत से ख़ूब ही उसकी गोद भरी थी। जग्गू के बाद उसके तीन लड़के हुए थे—सुन्दरी, हरि

और रूप। बाबा सोडल हैं भी तो दूध-पूत के दाता—किन्तु उनका काम दूध-पूत देना भर है, शेष जीवन से उन्हें कोई सरोकार नहीं, बाद को दूध चाहे फट जाय और पूत चाहे कुपूत हो जाय।

दूध फट गया था और पूत कुपूत हो गये थे। और वह अपने भाग्य को कोसता, भय और चिन्ता से चूर, भीड़ से बचता-बचाता, दुर्बलता के कारण काँपता-हाँफता लठिया के सहारे चला जा रहा था। उसके सामने एक तूफ़ान उठ रहा था और उसे अनुभव होता था, जैसे यह तूफ़ान उसके घोंसले का आख़िरी तिनका तक बिखेरकर रख देगा और वह चाहता था कि उड़कर वहाँ पहुँच जाय और पंख फैलाकर, सीना ताने तूफ़ान के सामने खड़ा हो जाय, अपने घोंसले को बचा ले, अपने बच्चों को बचा ले, किन्तु उसकी दशा उस पक्षी की-सी थी जिसके पंखों में इतनी भी शक्ति न रही हो कि वे पूरी तरह फैल सकें।

चारों भाइयों की दुकानें ज़मीन के एक ही टुकड़े पर साथ-साथ लगी हुई थीं। पहले इस टुकड़े पर केवल एक दुकान लगती थी, फिर दो लगने लगीं, फिर तीन हो गयीं और अब थीं चार! प्रकट वहाँ अब भी एक ही दुकान लगी प्रतीत होती थी, किन्तु वास्तव में रूप और उसके भाइयों की दुकानों में एक अदृश्य दीवार आ खड़ी हुई थी।

प्रातः इधर श्रद्धालु बाबा सोडल के दर्शनार्थ आने लगे, उधर चारों भाइयों में होड़ लग गयी। सोडल के भक्त बड़े दरवाज़े से आते, तालाब के पास बैठे हुए पुजारी के सामने पूजा के निमित्त लायी हुई मठरियाँ ढेरी करके, प्यालों को तालाब की सीढ़ियों पर फेंक, स्नान करते; फिर अपने पूर्वजों को पानी चढ़ाते और एक-एक पुरखे का नाम लेकर ग्यारह-ग्यारह बार तालाब की मिट्टी निकालते; फिर सपरिवार सोडल बाबा के मन्दिर की परिक्रमा करते और फिर खोंचे वालों की असंख्य दुकानों से खाते और बच्चों को खिलाते हुए खिलौनों की इन चारों दुकानों के सामने से गुज़रते, क्योंकि लौटने का दरवाज़ा इन दुकानों के पार्श्व ही में था।

रूप की दुकान सब से आगे थी, उसके बाद हरि की, फिर सुन्दरी की और आख़िर में जग्गू की। रूप की चोटें अभी तक ठीक न हुई थीं। वह कमज़ोर भी था, इसलिए चुपचाप गद्दी पर बैठा था। उसके मुहल्ले के दो-एक लड़के बड़े उत्साह से उसके काम में हाथ बँटा रहे थे। महीनों घर की कारा में बँधी तरुणियाँ अवसर पाकर मेले में स्वच्छन्द हरिणियों सी विचर रही थीं। मेले से वापसी पर वे खिलौनों पर टूटी पड़ती थीं। रूप के साथी लड़के एक-के-बाद एक खिलौना ग्राहकों को दिखाते, लड़कियों को 'बहन जी,' बड़ी-बूढ़ियों को 'माँ जी,' पुरुषों को 'बाबू जी' या 'लाला जी' या 'पण्डित जी' कहकर बुलाते और खिलौने पसन्द कराये बिना आगे न बढ़ने देते। इन मिठबोले लड़कों से बचकर निकल जाना साधारण ग्राहकों के बस में न था और रूप के खिलौने धड़ाधड़ बिक रहे थे।

ज्यों-ज्यों रूप के खिलौने अधिक बिकते, हरि और सुन्दरी के मन में धुआँ उठता, ईर्ष्या-द्वेष का धुआँ! रहा जग्गू, तो वह ईर्ष्या और द्वेष से परे था। अपने फूले हुए पेट, कंकाल-मात्र शरीर, लकड़ियों-से सूखे हाथ-पाँव लिये, वह भीगी मिट्टी की तरह पड़ा था। सहसा हरि एक स्टूल पर खड़ा हो गया और आवाज़ें देकर खिलौने बेचने लगा। उसकी देखा-देखी सुन्दरी भी उठा, किन्तु रूप की दुकान पर एक के बदले दो लड़के खड़े हो गये।

रूप के ओठों पर विजय की एक हल्की-सी मुस्कान फैल गयी। उसके तप्त हृदय को निमिष-भर के लिए सान्त्वना मिली। इस दुकान के लिए उसने अन्य भाइयों से छः रुपये अधिक दिये थे; हाथ-पाँव तुड़वाये थे; सात दिन तक निर्जीव-सा पड़ा रहा था। अपनी इस सफलता को देखकर उसको जैसे अपने सारे कष्ट भूल गये। काश, वह सारे खिलौने समाप्त कर पाता!

वास्तव में जग्गू और सुन्दरी की अपेक्षा उसे हरि पर क्रोध था। यद्यपि जग्गू सब से पहले अलग हुआ था, किन्तु उसकी पृथकता से भाइयों में किसी प्रकार की होड़ का सूत्रपात न हुआ था और जब एक दिन सुन्दरी भी अपनी पत्नी को लेकर अलग हो गया तो भी परिवार परस्पर मिलते-जुलते थे और दुकानें एक ही टुकड़े पर लगती थीं। किन्तु हरि ने अलग होकर उनके मध्य एक

अगम्य खाड़ी बना दी थी। वह इतना चतुर और स्वार्थी था कि रूप उससे तंग आ गया था। दोनों बड़े भाइयों के अलग हो जाने के बाद रूप और हरि मिलकर काम करते थे। दोनों ने अपने विवाह पर कुछ ऋण ले रखा था। हरि ने रूप से कहा था कि हम दोनों मिलकर यह ऋण चुका देंगे। पहले तुम मेरा ऋण चुकाने में मुझे सहायता दो, फिर मैं तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारा ऋण चुका दूँगा। और जब दिन-रात के परिश्रम से, दूसरे भाइयों की अपेक्षा दुगुने-तिगुने खिलौने बनाकर, रूप और कमला ने हरि का ऋण चुका दिया था और रूप का ऋण चुकाने की बारी आयी थी तो वह अलग हो गया था। इतना ही नहीं, उसने रूप के विरुद्ध दूसरे भाइयों को भड़काया भी था और फिर तीनों ने मिलकर उसके विरुद्ध एक मोर्चा लगा लिया था।

रूप के मन में बगूला-सा उठा और उसने क्रोध-भरी दृष्टि से हरि की ओर देखा—उसने खिलौनों का मोल घटा दिया था। कड़ककर रूप ने अपने आदमियों से कहा, "इकन्नी वाली चीज़ों के दो-दो पैसे कर दो!" और लड़कों ने बड़े ज़ोर से आवाज़ लगायी, "इकन्नी वाले खिलौने दो-दो पैसे में, इकन्नी वाले खिलौने दो-दो पैसे में!"

काश, वह सारे-के-सारे खिलौने समाप्त कर पाता! दीवाली, दशहरा, ठंडड़ी, बाजड़े आदि सब मेलों में उसके भाइयों ने उसके मुक़ाबिले में दुकान लगायी थी, किन्तु कुछ अपने परिश्रम और कुछ पड़ोसियों की सहानुभूति तथा सहायता के कारण वह अपने भाइयों से बाज़ी ले गया था। एक मेले के समाप्त होते ही वह और कमला दूसरे की तैयारी आरम्भ कर देते। वसन्त पंचमी के मेले में उसके भाइयों ने खिलौनों का मोल कम कर दिया था। इसलिए वह सोडल के लिए इतने खिलौने बना लेना चाहता था कि यदि इकन्नी वाले खिलौने पैसे-पैसे को भी बेचने पड़ें तो वह उन सब से बाज़ी ले जाय। और दिन-रात के परिश्रम तथा उद्योग से उन्होंने अगणित खिलौने तैयार भी कर लिये थे। वसन्त पंचमी के बाद ही वह और कमला एक प्रबल, अन्धे हठ के अधीन सोडल के मेले की तैयारियाँ करने लगे थे। रात के पिछले पहर उठ कर लैम्प के धीमे प्रकाश में वे मिट्टी और साँचे ले बैठते और सुध-बुध खोकर

सारा-सारा दिन खिलौने बनाने में निमग्न रहते। जब भूख लगती तो कुछ रूखी-सूखी खाकर फिर काम में जुट जाते। बैठे-बैठे थक जाते तो रूप उठकर नये खिलौनों के लिए मिट्टी का तगार बनाने लगता और कमला धूप में सूखे हुए खिलौनों को भट्टी के पास ला रखती। वह मिट्टी बना लेता तो वह कमाने लगती। इस प्रकार थके हुए अंग कुछ खुल जाते तो फिर दोनों साँचे ले बैठते, शाम का भोजन भुने हुए चनों से हो जाता। साथ-साथ काम होता, साथ-साथ पेट को ईंधन दिया जाता। दिन चढ़ता, ढलता और अस्त हो जाता, किन्तु उनके उत्साह में कमी न आती। उसी निष्ठा से वे काम में लगे रहते। रात का एक-एक बज जाता, किन्तु उनकी स्फूर्ति थकने का नाम न लेती। उनके हाथ उसी वेग से चलते। खिलौनों से फ़ालतू मिट्टी उसी गति से उतारी जाती। सूखे हुए खिलौनों पर सफ़ाई के लिए पानी का हाथ उसी तेज़ी से फेरा जाता—और उन्होंने इतने खिलौने बना लिये थे कि यदि वे सब पूरे हो जाते, उन पर रंग-रोग़न हो जाता तो रूप अपने भाइयों को ऐसा पदाता...ऐसा पदाता...चाहे फिर वे इकन्नी का खिलौना अधेले को बेचते...किन्तु उसके ये क्रूर भाई... टुकड़ों की नीलामी पर उन्होंने उसे बुरी तरह पीटा था और वे सब खिलौने अधूरे ही पड़े रह गये थे।

बात यह थी कि जहाँ पहले सब भाई मिलकर एक टुकड़ा आठ रुपये को ले लेते थे, वहाँ अब उसी एक टुकड़े को चार भागों में विभक्त किया गया था। रूप के भाई चाहते थे कि अन्तिम टुकड़ा रूप को दिया जाय, क्योंकि वह सब से छोटा है, किन्तु सब से अन्त में स्थान पाने का अर्थ यह था कि उसका एक खिलौना भी न बिके। उसके ये 'दयावान' भाई कब किसी ग्राहक को उस तक पहुँचने देते। इसलिए वह अड़ गया था कि लेगा तो पहला टुकड़ा ही लेगा। इस पर उन चारों टुकड़ों में से पहला नीलाम हुआ था और पहले जहाँ सारे-का-सारा टुकड़ा आठ रुपये को बिकता था, वहाँ उसका चौथा भाग आठ को बिका। रूप ने उसे ले लिया। यद्यपि शेष टुकड़ों की बोली न हुई थी और उसके भाइयों को तीनों टुकड़े छः रुपये में मिल गये थे, किन्तु पहले टुकड़े के चले जाने का दुख उनके मन में बना रहा। रास्ते में उन्होंने रूप को

गालियाँ दीं और जब उसके मुँह से भी कुछ ऐसे-वैसे शब्द निकल गये तो उन्होंने उसे ख़ूब पीटा। जब वह घर आया तो बेतरह लोहूलुहान था।

रूप के दिल का बगूला आँधी बन चला। उस समय उनकी दुकान के लड़के आवाज़ें लगा रहे थे, "इकन्नी का खिलौना दो पैसे में!"..."इकन्नी का खिलौना दो पैसे में!" तब हरि चिल्लाया, "इकन्नी का खिलौना डेढ़ पैसे में!" रूप उठकर चीख़ा, "इकन्नी का खिलौना एक पैसे में!"

"तुम्हें अपने बाप की सौगन्ध तुम बैठे रहो!" कमला ने विनीत स्वर में कहा और हाथ खींचकर उसे बैठा दिया। रूप की दृष्टि कमला की ओर गयी—ज्योंही एक खिलौना बिक जाता, विद्युत्-गति से वह दूसरा उन्हें देती। यदि कमला न होती तो वह कभी मेले में आने की सामर्थ्य न पाता—रात-रात भर वह उसे गर्म ईंट का सेंक देती रही थी। उसकी देख-भाल करने के साथ-साथ न केवल वह उसके लिए औषधि आदि लाती और खाना पकाती, बल्कि वह खिलौने बनाती, पकाती और रँगती रही थी। उसमें कुछ ऐसा गुण था कि मुहल्ले भर के छोटे-छोटे बच्चे उनके आँगन में इकट्ठे हो जाते और हँसी-खुशी उनका हाथ बटाते। कोई बने हुए खिलौनों को उठा-उठाकर धूप में रखता; कोई सूखे हुए खिलौनों को पकाने के लिए इकट्ठा करता; कोई पके हुए खिलौनों को खड़िया मिट्टी से रँगता और बीसियों छोटे-छोटे काम पलक झपकते हो जाते। बीमारी के उन छः-सात दिनों में रूप को अपना कष्ट तनिक भी महसूस न हुआ था। इस समय, जब दूसरे भाइयों की पत्नियाँ रंग-बिरंगी धोतियाँ पहने, मिस्सी से ओठ रँगे, सिर में सरसों का तेल, आँखों में काजल और माथे पर बिन्दी लगाये मेला देख रही थीं, कमला वही मटमैली धोती पहने उसका हाथ बटा रही थी—और उसके मैके में किसी ने कभी मिट्टी को हाथ तक न लगाया था।

तभी रूप ने देखा कि हरि उसकी दुकान के सामने खड़े ग्राहकों को आवाज़ें दे रहा है। क्रोध से वह उठा—उसके दिल की आँधी तूफ़ान बन चली। उस समय हरि ने उसके एक ग्राहक को कन्धे से खींचा। रूप ने ललकार दी। हरि ने उत्तर में गाली। रूप का क्रोध उसकी आँखों में लाली बन गया। उसने लाठी

उठा ली और फलाँगकर दुकान के नीचे आ गया।

बूढ़ा खिलौने वाला भीड़ से बचता-बचाता, काँपता-डोलता चला जा रहा था—ये इतने असंख्य लोग—ये सब खिलौने ही तो हैं, किन्तु ये सब अपने बनाने वाले को भूले हुए हैं—ठीक उसी तरह जैसे उसके खिलौने उसे भूल गये थे। किन्तु शायद वह महान निर्माता भी उसकी भाँति बुड्ढा हो चला है।

उसने एक दीर्घ-निश्वास लिया। वह इतना रास्ता, जो कभी वह खिलौनों का सब से बड़ा टोकरा सिर पर उठाये एक डेढ़-घण्टे में तय कर लेता था, अब बड़ी कठिनाई से तीन-चार घण्टे में पार कर पाया था। सहस्रों लोग सोडल की पूजा करके अपने कामों पर जा लगे थे। वह शायद लौट जाता, शायद थककर रास्ते में बैठ जाता...किन्तु एक अज्ञात प्रेरणा उसे बरबस आगे धकेल रही थी। उसकी आँखों के सामने तूफ़ान प्रतिक्षण उग्र रूप धारण कर रहा था। उसे लोगों की भीड़, खोंचे वाले, सबीलें, दुकानें—कुछ भी दिखायी न दे रहा था और वह अनुभव कर रहा था जैसे यह तूफ़ान उसके घोंसले के तिनके-तिनके बिखेर देगा। वह तूफ़ान के सामने छाती फुलाकर डट जाना चाहता था।

बड़ी कठिनाई से स्वयं-सेवकों की मिन्नत करके वह दुकानों के पीछे से दाख़िल हुआ। किन्तु जब वह दुकानों के पास पहुँचा तो तूफ़ान उसके घोंसले को अपनी लपेट में ले चुका था। लाठियों के प्रहारों से खिलौनों की दुकानें बिखर चुकी थीं और भाई-भाई एक-दूसरे पर टूट चुके थे। बूढ़े का कम्पन सहसा बन्द हो गया। उसकी कमर न जाने कैसे सीधी हो गयी! उसकी थकान न जाने कहाँ उड़ गयी! क्षण-भर के लिए उसने अनुभव किया, जैसे वह वही पुराना खिलौने वाला है और वे उसके बनाये हुए खिलौने हैं, जो आपस में गडमड हो रहे हैं और उसे उनको फिर यथास्थान रख देना है। वह लठिया उठाये हुए उस तूफ़ान में घुस पड़ा।

मेला समाप्त हो गया—रूप, हरि और सुन्दरी मेले के अस्पतालमें पट्टियाँ

बाँधे पड़े थे। चारपाइयाँ, लकड़ी के तख़्ते और टीन के ख़ाली कनस्तर, जिनसे वे दुकानें खड़ी की गयी थीं और वे खिलौने, जो उन दुकानों में सजाये गये थे, सब बिखरे पड़े थे। उन सब के मध्य एक औंधी चारपाई के नीचे बूढ़ा खिलौने वाला मरा पड़ा था—संसार के उस आदि-कलाकार की तरह बेबस, जिसने खिलौने बनाकर उन पर अपना अधिकार खो दिया है और स्वयं एक खिलौना बन गया है—निस्पन्द और निष्प्राण! लठिया अब भी उसके हाथ में उठी हुई थी, मानो वह अब भी उस तूफ़ान का सामना करना चाहता था। किन्तु वह अज्ञात प्रेरणा कदाचित् यहाँ आकर ख़त्म हो गयी थी और उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं।

●

पिंजरा

शान्ति ने ऊबकर कागज़ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठकर अनमनी-सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ न था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बँट जाता था। केवल चार पंक्तियाँ वह लिखना चाहती थी, पर वह जो कुछ लिखना चाहती, उससे लिखा न जाता था। भावावेश में कुछ-का-कुछ लिख जाती थी। चार पत्र वह फाड़ चुकी थी। यह पाँचवाँ था।

घूमते-घूमते वह चुपचाप खिड़की में जा खड़ी हुई। संध्या का सूर्य दूर पश्चिम में डूब रहा था। माली ने क्यारियों में पानी छोड़ दिया था। दिन भर के मुरझाये फूल जैसे जीवन-दान पाकर खिल उठे थे। हल्की-हल्की ठण्डी हवा चलने लगी थी। शान्ति ने दूर सूर्य की ओर निगाह दौड़ायी—पीली-पीली सुनहरी किरणें जैसे डूबने से पहले, उन छोटे-छोटे बच्चों के खेल में जी भर हिस्सा ले लेना चाहती थीं, जो सामने के मैदान की हरी-भरी घास पर ऊँच-नीच से बेपरवाह, उन्मुक्त खेल रहे थे। सड़क पर दो कमीन युवतियाँ हँसती, चुहलें करती, उछलती, कूदती चली जा रही थीं। शान्ति ने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा। मुड़कर उसने अपने इर्द-गिर्द एक थकी हुई निगाह डाली—छत पर बड़ा पंखा धीमी आवाज़ से अनवरत घरघरा रहा था। दरवाज़ों पर भारी पर्दे हिल रहे थे और भारी कौच और उन पर रखे हुए रेशमी गद्दे, ग़ालीचे और कमरे के मध्य सजी छोटी-छोटी अठकोनी मेज़ें और उन पर पीतल के नन्हे-नन्हे हाथी और फूलदान—और उसने अपने-आपको उस पक्षी-सा अनुभव किया, जो सीमाहीन, स्वतन्त्र आकाश के नीचे, स्वच्छन्द, खुली हवा में, आम की डाली से बँधे पिंजरे में लटक रहा हो।

तभी नौकर उसके छोटे लड़के को, जैसे बरबस खींचता-सा लाया। धोबी

की लड़की के साथ वह खेल रहा था। आव देखा न ताव और शान्ति ने लड़के को पीट दिया—"क्यों तू उन कमीनों के साथ खेलता है, क्यों खेलता है तू! इतने बड़े बाप का बेटा होकर!" और उसकी आवाज़ चीख़ की हद को पहुँच गयी। हैरान-से खड़े नौकर ने बढ़कर ज़बरदस्ती बच्चे को छुड़ा लिया। शान्ति जाकर धम्म से कौच में धँस गयी और उसकी आँखों से अनायास आँसू झर उठे।

तब वहीं बैठे-बैठे उसकी आँखों के सामने अतीत के कई चित्र घूम गये।

उसके पति तब लाण्डरी का काम करते थे। बाइबल सोसाइटी के सामने, जहाँ आज एक दन्दानसाज़ बड़े धड़ल्ले से लोगों के दाँत उखाड़ने में निमग्न रहते हैं, उनकी लाण्डरी थी। आय अच्छी थी, पर ख़र्च भी कम न था। ३५ रुपया तो दुकान का किराया ही देना पड़ता था। फिर कपड़े धोने और प्रेस करने के लिए जो तबेला ले रखा था, उसका किराया अलग था। इसके अतिरिक्त धोबियों के वेतन, कोयले, मसाला और सौ दूसरे पचड़े! इस सब ख़र्च की व्यवस्था के बाद जो थोड़ा-बहुत बचता था, उससे बड़ी कठिनाई के साथ घर का ख़र्च चलता था और घर उन्होंने दुकान के पीछे ही महीलाल स्ट्रीट में ले रखा था।

महीलाल स्ट्रीट जैसी अब है वैसी ही तब भी थी। मकानों का रूप, यद्यपि इन दस वर्षों में कुछ बदल गया है, किन्तु मकीनों[1] में कुछ अधिक अंतर नहीं आया। अब भी इस इलाके में कमीन बसते हैं और तब भी बसते थे। सील-भरी अँधेरी कोठरियाँ चमारों, धीवरों और शुद्ध हिन्दुओं का निवास-स्थान थीं। एक ही कोठरी में रसोई, बैठक-ख़ाना और शयन-गृह—वह भी ऐसा, जिसमें सास-ससुर, बेटा-बहू, लड़के-लड़कियाँ—सब एक साथ सोते हों।

जिस मकान में शान्ति रहती थी, उसके नीचे टैंडी चमार अपने आठ लड़के-

१—निवासियों।

लड़कियों के साथ जमा हुआ था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दुकान थी और जिधर दरवाज़ा था उधर भंगी रहते थे। उनके दरवाज़े से ज़रा ही परे भंगियों ने तन्दूर लगा रखा था, जिसका धुआँ सुबह-शाम उनकी रसोई में आ जाया करता था और शान्ति को प्रायः रसोई की खिड़की बन्द रखनी पड़ती थी। दिन-रात वहाँ चारपाइयाँ बिछी रहती थीं और कपड़ा बचाकर निकलना प्रायः असम्भव होता था।

गर्मियों के दिन थे और म्युनिसिपैलिटी का नल काफ़ी दूर अनारकली के पास था, इसलिए इन ग़रीब लोगों की सुविधा के ख़याल से शान्ति ने अपने पति की सिफ़ारिश पर उन्हें नीचे ड्योढ़ी के नल से पानी लेने की इज़ाज़त देदी थी। पर जब उन्हें उस मकान में आये कुछ दिन बीते तो शान्ति को मालूम हो गया कि यह उदारता बड़ी महँगी पड़ेगी। एक दिन जब उसके पति नहाने के बाद साबुन की डिबिया नीचे ही भूल आये और शान्ति उसे उठाने गयी तो उसने उसे नदारद पाया। फिर कुछ दिन बाद तौलिया ग़ायब हो गया। इसी तरह दूसरे-तीसरे कोई-न-कोई चीज़ गुम होने लगी। हारकर एक दिन शान्ति ने अपने पति के पीछे पड़कर नल की टूँटी पर लकड़ी का छोटा-सा बक्स लगवा दिया और चाबी उसकी अपने पास रख ली।

दूसरे दिन, जब एक ही धोती से शरीर ढाँपे वह पसीने से निचुड़ती हुई, चूल्हे के आगे बैठी रोटी की व्यवस्था कर रही थी, उसने अपने सामने एक काली-सी लड़की को खड़े पाया।

लड़की उसकी समवयस्क ही थी। रंग उसका बेहद काला था और शरीर पर उसने अत्यन्त मैली-कुचैली धोती और बण्डी पहन रखी थी। वह अपने गहरे काले बालों में सरसों ही का तेल डालती होगी, क्योंकि उसके मस्तक पर बालों के नीचे पसीने के कारण तेल में मिली हुई मैल की एक रेखा बन रही थी। चौड़ा-सा मुँह और चपटी-सी नाक! शान्ति के हृदय में क्रोध और घृणा का तूफ़ान उमड़ आया। आज तक घर की जमादारिन के अतिरिक्त नीचे रहने वाली किसी कमीन लड़की को ऊपर आने का साहस न हुआ था और न स्वयं ही उसने किसी से बातचीत करने की कोशिश की थी।

लड़की मुस्करा रही थी और उसकी आँखों में विचित्र-सी चमक थी।

"क्या बात है?" जैसे आँखों-ही-आँखों में शान्ति ने क्रोध से पूछा।

तनिक मुस्कराते हुए लड़की ने प्रार्थना की कि.बीबी जी पानी लेना है।

"हमारा नल भंगी-चमारों के लिए नहीं है!"

"हम भंगी हैं न चमार!"

"फिर कौन हो?"

"मैं बीबी जी, सामने के मन्दिर के पुजारी की लड़की..."

लेकिन शान्ति ने आगे कुछ न सुना था। उसे लड़की से बातें करते घिन आती थी। धोती के छोर से चाबी खोलकर उसने फेंक दी।

इस काले-कलूटे शरीर में दिल काला न था, और शीघ्र ही शान्ति को इस बात का पता चल गया। रोज़ ही पानी लेने के वक्त चाबी के लिए गोमती आती। गली में पूरबियों का जो मन्दिर था, वह उसके पुजारी की लड़की थी। अमीरों के मन्दिर के पुजारी भी मोटरों में घूमते हैं। यह मन्दिर था ग़रीब पूरबियों का, जिनमें प्रायः सब चौकीदार, चपरासी, साईस अथवा मज़दूर थे। पुजारी का कुटुम्ब भी खुली गली की एक ओर भंगियों की चारपाइयों के सामने सोता था। और जब रात को कोई ताँगा उधर से गुज़रता तो प्रायः किसी-न-किसी की चारपाई उसके साथ घिसटती हुई चली जाती। मन्दिर में कुआँ तो था, पर जब से इधर नल आये, उस पर डोल और रस्सी की कमी ही रही। फिर जब समीप ही किसी की ड्योढ़ी के नल से पानी मिल जाय तो कुएँ पर बाज़ू तोड़ने की क्या ज़रूरत है? इसलिए गोमती पानी लेने और कुछ पानी लेने के बहाने बातें करने रोज़ ही सुबह-शाम आ जाती। बटलोही नल के नीचे रखकर, जिसमें सदैव पान के कुछ पत्ते तैरा करते, वह ऊपर चली आती और फिर बातों-बातों में भूल जाती कि वह पानी लेने आयी है और उस समय तक न उठती जब तक गली में अपनी चारपाई पर बैठी उसकी बुढ़िया दादी चीख-चीखकर गालियाँ देती हुई उसे न पुकारती।

इसका यह मतलब नहीं कि इस बीच में शान्ति और गोमती में मित्रता

हो गयी थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि शान्ति जब रसोई में खाना पकाती अथवा अन्दर कमरे में बैठी कपड़े सीती तो उसको गोमती का सीढ़ियों में बैठकर बातें करते रहना बुरा नहीं लगता। कई तरह की बातें होतीं—मुहल्ले के भंगियों की बातें, चमारों के घरेलू झगड़ों की बातें और फिर कुछ गोमती की निजी बातें। इस बीच में शान्ति को मालूम हो गया कि गोमती का विवाह हुए वर्षों बीत चुके हैं, पर उसने अपने पति की सूरत नहीं देखी। कोई काम-काज नहीं करता इसलिए न वह उसे लेने आता है और न उसके पिता उसे उसके साथ भेजते हैं।

कई बार छेड़ने की ग़रज़ से या कई बार मात्र आनन्द लेने के हेतु शान्ति उससे उसके पति और उसके अपने मनोभावों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछती। उत्तर देते समय गोमती शरमा जाती।

किन्तु इतना सब होते हुए भी उसकी जगह वहीं सीढ़ियों में बनी रही थी।

फिर किस प्रकार पुजारी की वह काली-कलूटी लड़की वहाँ से उठकर उसके इतने समीप आ गयी कि शान्ति ने एक बार अनायास उसे आलिंगन में लेकर कह दिया—आज से तुम मेरी बहन हुई गोमती—वह सब आज भी शान्ति को स्मरण था।

सर्दियों की रात थी और अनारकली में सब ओर धुआँ-धुआँ हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे लाहौर के समस्त तन्दूरों, होटलों, घरों और कार-खानों से सारा दिन उठने वाले धुएँ ने साँझ पड़े इकट्ठे होकर अनारकली पर आक्रमण कर दिया हो। शान्ति अपने नन्हे को कन्धे से लगाये, हाथों में कुछ हल्के-फुल्के लिफ़ाफ़े थामे, क्रय-विक्रय करके चली आ रही थी। वह कई दिन के अनुरोध के बाद अपने पति को इधर ला सकी थी और उन्होंने जी भर खाया-पिया और ख़रीद किया था। अनारकली के मध्य बंगाली रसगुल्लों की जो दुकान है, वहाँ से रसगुल्ले खाने को शान्ति का बड़ा मन होता था, पर उसके पति को कभी इतनी फ़ुर्सत ही न हुई थी कि वहाँ तक सिर्फ़ रसगुल्ले

खाने के लिए जा सकें। अस्पताल रोड के सिरे पर हलवाई के साथ चाट वाले की जो दुकान थी, वहाँ से चाट खाने की शान्ति की बड़ी इच्छा थी, पर चाट ऐसी निकम्मी चीज़ खाने के लिए काम छोड़कर जाने का अवकाश शान्ति के पति के पास कहाँ ? कई दिनों से वह अपने उम्मी के लिए कुछ गर्म कपड़ों के टुकड़े ख़रीदना चाहती थी। सर्दी बढ़ रही थी और उसके पास एक भी कोट न था। और फिर गर्म कपड़ा न सही, वह चाहती थी कि कुछ ऊन ही मोल ले ली जाय, ताकि नन्हे का स्वेटर बुन दिया जाय। पर उसके पति 'हूँ,' 'हाँ' करके टाल जाते थे, किन्तु उस दिन वह निरन्तर महीने तक अनुरोध करने के बाद उन्हें अपने साथ अनारकली ले जाने में सफल हुई थी। और उस दिन उन्होंने जी भर बंगाली के रसगुल्ले और चाट वाले की चटपटी चाट खायी थी, बल्कि घाते में मोहन के पकौड़े और मटर वाले आलुओं का स्वाद भी चखा था। फिर उम्मी के लिए कपड़ा ख़रीदा था और ऊन भी मोल ली थी और दो आने दर्जन ब्लेडों वाली गुडवोग की डिबिया तथा एक कॉलगेट साबुन की दो आने वाली टिकिया उसके पति ने भी ख़रीदी थी। कई दिन से वे उन्हीं पुराने ब्लेडों को शीशे के गिलास से तेज़ करके नहाने वाले साबुन ही से हजामत बनाते आ रहे थे और उस दिन शान्ति ने यह सब ख़रीदने के लिए उन्हें विवश कर दिया था। दोनों जने यह सब ख़रीदकर, ख़र्च करने के आनन्द की अनुभूति से पुलकित चले जा रहे थे।

दिसम्बर का महीना था। सूखा जाड़ा पड़ रहा था। शान्ति ने अपने सस्ते, पर गर्म शाल को नन्हे के गिर्द और अच्छी तरह लपेटते हुए अचानक कहा, "निगोड़ा सूखा जाड़ा पड़ रहा है। सुनती हूँ नगर में बीमारी फैल रही है।"

पर उसके पति चुपचाप, धुएँ के कारण कड़ुवी हो जाने वाली अपनी आँखों को रूमाल से मलते चले आ रहे थे।

शान्ति ने फिर कहा, "हमारी अपनी गली में कई लोग बीमार हो गये हैं। परसों टेंडी चमार का लड़का निमोनिया से मर गया।"

तभी शाल में लिपटा-लिपटा बच्चा हल्के-हल्के दो बार खाँसा और शांति

ने उसे और भी अच्छी तरह शाल में लपेट लिया।

उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके उसके पति ने कहा, "आज बेहद बदपरहेज़ी की है, पेट में सख़्त गड़बड़ हो रही है।"

घर आकर शान्ति ने जब लड़के को चारपाई पर लिटाया और मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसके बालों को पीछे की ओर किया तो वह चौंककर पीछे हटी। उसने डरी हुई निगाहों से अपने पति की ओर देखा। वे सिर को हाथों में दबाये नाली पर बैठे थे।

"उम्मी का माथा तो तवे की तरह तप रहा है।" उसने बड़ी कठिनाई से गले को अचानक अवरुद्ध कर देने वाली किसी चीज़ को बरबस रोककर कहा।

लेकिन उसके पति को क़ै हुई।

शान्ति का कण्ठ रुद्ध-सा होने लगा था और उसकी आँखें भर-सी आयी थीं। पर अपने पति को क़ै करते देख बच्चे का ख़याल छोड़, वह उनकी ओर भागी। पानी लाकर उनको कुल्ला कराया। निढाल-से होकर वे चारपाई पर पड़ गये। कुछ ही क्षण बाद उन्हें फिर मतली हुई।

शान्ति के हाँथ-पाँव फूल गये। घर में वह अकेली थी। सास-माँ पास नहीं, कोई दूसरा नाता-रिश्ता भी समीप नहीं और नौकर—नौकर रखने की गुंजाइश ही कभी नहीं निकली। वह कुछ क्षण के लिए घबरा गयी। एक उड़ी-उड़ी-सी दृष्टि उसने अपने ज्वर से तपते हुए बच्चे और बदहज़मी से निढाल पति पर डाली। अचानक उसे गोमती का ख़याल आया। शान्ति अकेली कभी गली में न उतरी थी, पर सब संकोच छोड़, वह भागी-भागी नीचे गयी। गोमती अपनी कोठरी के बाहर, गली की ओर मात्र ईंटों के छोटे-से पर्दे की ओट से बने रसोई-घर में बैठी रोटी बेल रही थी और चूल्हे की आग से उसका काला मुख चमक-सा रहा था। शान्ति ने देखा—उसका बड़ा भाई अभी खाना खाकर उठा है। तब आगे बढ़कर उसने इशारे से गोमती को बुलाया। तवे को नीचे उतार और लकड़ी को बाहर खींचकर गोमती उसी तरह भागी आयी। तब विनीत-भाव से संक्षेप में शान्ति ने अपने पति तथा बच्चे की

हालत का ज़िक्र किया। फिर प्रार्थना की कि वह अपने भाई से कहकर तत्काल किसी डाक्टर को बुलवा दे। उनकी लाण्डरी के साथ ही जिस डाक्टर की दुकान है, वह सुना है पास ही लॉज रोड पर रहता है, यदि वह आ जाय तो बहुत ही अच्छा हो। और फिर साड़ी के छोर से पाँच रुपये का एक नोट खोलकर शान्ति ने गोमती के हाथ में रख दिया कि फ़ीस चाहे पहले ही क्यों न देनी पड़े, पर डाक्टर को ले अवश्य आये। फिर चलते-चलते उसने यह भी प्रार्थना की कि रोटी पकाकर सम्भव हो तो वह ज़रा ऊपर आ जाय, उम्मी......

शान्ति का गला भर आया था। गोमती ने कहा था, "आप घबरायें नहीं, मैं अभी भाई को भेज देती हूँ और मैं भी अभी आयी।"

और यह कहकर वह भागती-सी चली गयी थी।

शान्ति वापस मुड़ी तो सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने महसूस किया कि शंका और भय से उसके पाँव काँप रहे हैं और उसका दिल धक्-धक् कर रहा है।

ऊपर जाकर उसने देखा—उसके पति ऊपर से उतर रहे हैं। हाथ में उनके ख़ाली लोटा है, चेहरा पहले से भी पीला हो गया है और माथे पर पसीना छूट रहा है।

शान्त के उड़े हुए चेहरे को देखकर उन्होंने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा, "घबराओ नहीं, सर्दियों में हैज़ा नहीं होता।"

शान्ति ने रोते हुए कहा, "आप ऊपर क्यों गये, वहीं नाली पर बैठ जाते। किन्तु जब पति ने नाली की ओर और फिर चारपाई पर पड़े हुए बीमार बच्चे की ओर इशारा किया तो शान्ति चुप हो गयी। उसने पहले सहारा देकर पति को बिस्तर पर लिटाया, फिर नाली पर पानी गिराया, फिर दूसरे कमरे में बिस्तर बिछा, बच्चे को उस पर लिटा आयी। तभी गोमती आ गयी। खाना तो सब खा चुके थे, अपने हिस्से का आटा उठा, आग बुझा, वह भाग आयी थी।

शान्ति ने कहा, "मैं उम्मी को उधर कमरे में लिटा आयी हूँ। मुझे डर है उसे सर्दी लग गयी है, साँस उसे और भी कठिनाई से आने लगी है और खाँसी भी बढ़ गयी है। निचली कोठरी में पड़े हुए लिहाफ़ से पुरानी रुई ले

लो और अँगीठी में कोयले डाल उसकी छाती पर ज़रा उससे सेंक दो। इनके पेट में गड़बड़ है। मैं इधर इसका कुछ उपचार करती हूँ। कुछ नहीं तो गर्म पानी करके बोतल ही से सेंकती हूँ।"

गोमती ने कहा, "इन्हें बीबी जी कोई हाज़मे की चीज़ दो। हमारे घर तुम्मे की अजवाइन है। मैं उसमें से कुछ लेती आयी हूँ, जब तक डाक्टर आये, उसे ही ज़रा गर्म पानी से इन्हें दे दो।"

बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के शान्ति ने मैली-सी पुड़िया में बँधी काली-सी अजवाइन ले ली थी और गोमती अँगीठी में कोयले डाल, नीचे रुई लेने भाग गयी थी......।

बाहर शाम बढ़ चली थी। वहीं कमरे के अँधेरे में बैठे-बैठे शान्ति की आँखों के आगे चिन्ता और फ़िक्र के वे सब दिन-रात घूम गये। उसके पति को हैज़ा तो न था किन्तु गैस्ट्रो ऐंटिराइटिस (Gastro enteritis) तीव्र किस्म का था। डाक्टर के आने तक शान्ति ने गोमती के कहने पर उन्हें तुम्मे की अजवाइन दी थी, प्याज़ भी सुँघाया था और गोमती अँगीठी उठाकर दूसरे कमरे में बच्चे की छाती पर सेंक देने चली गयी थी। डाक्टर के आने पर मालूम हो गया था कि उसे निमोनिया हो गया है और अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

शान्ति अपने पति और अपने बच्चे, दोनों की एक वक़्त कैसे तीमारदारी करती, उसने विवशता से गोमती की ओर देखा था। पर उसे ओठ हिलाने की ज़रूरत न पड़ी थी, बच्चे की सेवा-शुश्रुषा का समस्त भार गोमती ने अपने कन्धों पर ले लिया था। शान्ति को मालूम भी न हुआ था कि वह कब घर जाती है, कब घर वालों को खाना खिलाती है, कब खाती है। खिलाती-खाती भी है या नहीं। उसने तो जब देखा, उसे छाया की भाँति बच्चे के पास पाया। कई दिन तक एक ही जून खाकर गोमती ने बच्चे की तीमारदारी की थी।

दोपहर का समय था, उसके पति दूकान पर गये हुए थे। उम्मी को भी अब आराम था और वह उसकी गोदी से लगा सोया पड़ा था और उसके

पास ही फ़र्श पर टाट बिछाये, गोमती पुराने ऊन के धागों से स्वेटर बुनना सीख रही थी। इतने दिनों की थकी-हारी उनींदी शान्ति की पलकें धीरे-धीरे बन्द हो रही थीं। वह उन्हें खोलती थी, पर वे फिर बन्द हो-हो जाती थीं। आख़िर वैसे ही पड़ी-पड़ी वह सो गयी थी। जब वह फिर उठी तो उसने देखा, उम्मी रो रहा है, और गोमती उसे बड़े प्यार से सुराली आवाज़ में थपक-थपक-कर लोरी दे रही है। शान्ति ने फिर आँखें बन्द कर लीं। उसने सुना गोमती बड़े धीमे स्वर से गा रही थी :

आ री कक्को, जा री कक्को, जंगल पक्को बेर
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा !

और फिर :

आ री चिड़ैया ! दो पप्पड़ा पकाय जा !
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा !

बच्चा चुप हो गया था। लोरी ख़त्म करके उसने बच्चे को गले से लगाकर चूम लिया। शान्ति ने अर्ध-निमीलित आँखों से देखा, बच्चे के पीले-ज़र्द हड्डियों से मुख पर गोमती का काला स्वस्थ मुख झुका हुआ है। सुख के आँसू उसकी आँखों में उमड़ आये। उसने उठकर गोमती से बच्चे को ले लिया था और जब वह फिर टाट पर बैठने लगी थी तो दूसरे हाथ से शान्ति ने उसका हाथ पकड़, चारपाई पर बिठाते हुए, उसे अपने बाज़ू से बाँध लिया था और कहा था—"आज से तुम मेरी बहन हुई गोमती !"

आँखें बन्द किये शान्ति इन्हीं स्मृतियों में गुम थी, उसकी आँखों से चुपचाप आँसू बह रहे थे कि अचानक उसके पति अन्दर दाख़िल हुए। किसी ज़माने में लाण्डरी चलाने वाले और समय पड़ने पर, स्वयं अपने हाथ से इस्त्री गर्म करके कपड़ों को प्रेस करने में हिचकिचाहट न महसूस करने वाले लाला दीनदयाल और लाहौर की प्रसिद्ध फ़र्म 'दीनदयाल एण्ड सन्ज़' के मालिक प्रख्यात शेयर-ब्रोकर राय साहब लाला दीनदयाल में महान अंतर था। इस दस वर्ष के अर्से में उनके बाल यद्यपि पक गये थे, किन्तु शरीर कहीं अधिक

स्थूल हो गया था। ढीले-ढाले और प्राय: मैले कपड़ों के बदले अब उन्होंने अत्यन्त बढ़िया किस्म का रेशमी सूट पहन रखा था और पावों में श्वेत रेशमी मोज़े तथा काले, हल्के सेण्डल पहने हुए थे।

शान्ति ने झट रूमाल से आँखें पोंछ लीं।

बिजली का बटन दबाते हुए उन्होंने कहा, "यह अँधेरे में क्या पड़ी हो, उठो बाग़ में घूमो-फिरो!" और फिर बोले, "इन्द्रानी का फ़ोन आया था कि बहन यदि चाहें तो आज सिनेमा देखा जाय।"

बहन—दिल-ही-दिल में विषाद से शान्ति मुस्करायी और उसके सामने एक और काली-कलूटी-सी लड़की का चित्र खिंच गया जिसे कभी उसने बहन कहा था। किन्तु प्रकट उसने सिर्फ़ इतना कहा, "मेरी तबीयत ठीक नहीं!"

मुँह फुलाये हुए लाला दीनदयाल बाहर चले गये।

बात यह थी कि आज दोपहर जब वे ब्रिज खेल रहे थे, तब नौकर ने आकर ख़बर दी थी कि महीलाल स्ट्रीट के पुजारी की लड़की गोमती आयी है। तब खेल को बीच ही में छोड़कर, और भूलकर कि उसके पार्टनर रायसाहब लाला बिहारीलाल हैं, वह भाग गयी थी और उसने गोमती को अपनी-भुजाओं में भींच लिया था और फिर वह उसे अपने कमरे में ले गयी थी। तब दोनों बहुत देर तक अपने दुख-सुख की बातें करती रही थीं। शान्ति ने जाना था, किस प्रकार गोमती का पति काम करने लगा, उसे ले गया और चार बच्चों की माँ बना दिया और गोमती ने उम्मी का और दूसरे बच्चों का हाल पूछा था। लाला दीनदयाल इस बीच में कई बार बुलाने आये थे, पर वह न गयी थी और जब दूसरे दिन आने का वादा लेकर उसने गोमती को विदा किया था तो उसके पति ने कहा था, "तुम्हें शर्म नहीं आती, उस उजड्ड और गँवार औरत को लेकर तुम बैठी रहीं, तुम्हें मेरी इज़्ज़त का भी ख़याल नहीं। उसे बग़ल में लिये उन सब के सामने से गुज़र गयीं! राय साहब और उनकी पत्नी हँसने लगे और आख़िर प्रतीक्षा करके चले गये..."

आँखों को फिर एक बार पोंछ, तनिक स्वस्थ होकर, शान्ति मेज़ के पास आयी और कुर्सी पर बैठ, पैड अपनी ओर खिसका, कलम उठाकर उसने लिखा :

बहन गोमती,

तुम्हारी बहन अब बड़ी बन गयी है। बड़े आदमी की बीवी है। बड़े आदमियों की बीवियाँ अब उसकी बहनें हैं। पिंजरे में बन्द पक्षी को कब आज्ञा होती है कि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र विहार करने वाले अपने हमजोलियों से मिले ? मैंने तुम्हें कल फिर आने के लिए कहा था, पर अब तुम कल न आना। अपनी इस बन्दिनी बहन को भूलने का प्रयास करना।

—शान्ति

इस बार उसने एक पंक्ति भी नहीं काटी और न काग़ज़ ही फाड़ा। हाँ, एक बार लिखते-लिखते फिर आँखें भर आने से जो एक-दो आँसुओं की बूँदें पत्र पर अनायास ही गिर पड़ी थीं, उन्हें उसने ब्लाटिंग-पेपर से सुखा दिया। फिर पत्र को लिफ़ाफ़े में बन्द करके उसने नौकर को आवाज़ दी और उसके हाथ लिफ़ाफ़ा देकर कहा कि महीलाल स्ट्रीट में पूरबियों के मन्दिर के पुजारी की लड़की गोमती को दे आये। और फिर समझाते हुए कहा, "गोमती, कुछ ही दिन हुए अपनी ससुराल से आयी है।"

पत्र लेकर नौकर चला ही था कि शान्ति ने उसे फिर आवाज़ दी और पत्र उसके हाथ से लेकर फाड़ डाला। फिर धीरे से उसने कहा, "तुम गोमती से कहना कि बीबी अचानक आज मैके जा रही हैं और दो महीने तक वापस न लौटेंगी।"

यह कहकर वह फिर खिड़की में जा खड़ी हुई और अस्त हो जाने वाले सूरज के स्थान पर ऊपर की ओर बढ़ते हुए अँधेरे को देखने लगी।

काकड़ाँ का तेली

'अढ़ाई रुपये !' मौलू ने सिर हिलाकर अपनी पत्नी की ओर देखा—उन आँखों से, जो मानो कह रही थीं कि शायद इस ताँगे वाले की अक्ल कहीं घास चरने चली गयी है !

अभी मुश्किल से आठ-साढ़े-आठ का वक़्त होगा, किन्तु दिन पहाड़-सा निकल आया था। सूरज बिलकुल सिर पर मालूम होता था। गर्मी इतनी थी कि दम घुटा जाता था। गर्द की हल्की-सी धुन्ध चारों ओर छायी हुई थी और इस कारण किरणें यद्यपि सीधी न पड़ती थीं तो भी शरीर के नंगे भागों में नोकें-सी चुभती महसूस होती थीं।

मौलू ने अपनी बड़ी-सी पगड़ी को ठीक किया, जिसे उसकी पत्नी ने रात को रीठों के पानी से धोया था और चावलों की कनी को पकाकर कलफ़ लगाया था और जिसे दोनों सिरों से पकड़कर उसकी दोनों बेटियों ने आँगन में चक्कर लगा-लगाकर सुखाया था और जो रात भर तह करके रखी रही थी और इस समय उसके सिर पर चमक रही थी और सिर के झटके से एक ओर को हो गयी थी। फिर उसने अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर (जो ओठों के पास पीली-सी हो गयी थी।) हाथ फेरा, गठरी को बायें कन्धे पर करके दायें हाथ से तहमद को ज़रा-सा झटका दिया और चल पड़ा।

बीबाँ, उसकी पत्नी ने सामने जाते हुए ताँगे के पीछे उड़ती हुई धूल में आँखें गड़ा दीं और बोली, "अढ़ाई रुपये ! इतने से तो पन्द्रह दिन का ख़र्च चल सकता है, और नहीं तो फ़ज्जे की दो कमीज़ें या मेरे नन्हे चिराग़ की कई कुर्तियाँ बन सकती हैं।" और उसने गोद के उबली-उबली, सूजी-सूजी आँखों वाले काले-स्याह बच्चे को मुहब्बत से चूम लिया।

जूते के साथ गर्द उड़कर मौलू के तहमद पर पड़ रही थी। रात उसकी पत्नी ने पगड़ी और कमीज़ के साथ उसको भी धोया था और नील भी दिया था, जो शायद रात के अँधेरे में अधिक दिया था, क्योंकि तहमद की सफ़ेदी में हल्की-सी नीलाहट साफ़ दिखायी दे रही थी और ज्यों-ज्यों गर्द पड़ती थी, वह और भी उभरती थी—मौलू ने फिर एक झटका देकर तहमद को ऊपर खोंस लिया। "इन कमबख़्त ताँगे वालों ने सड़क का सत्यानाश कर दिया है, मिट्टी मैदा बन गयी है।"—और उसने अपनी पत्नी और उनके पीछे आने वाली दोनों लड़कियों और सात-आठ वर्ष के बच्चे से कहा कि वे सड़क छोड़कर मेड़-मेड़ होकर चलें।

वहाँ तो सिर्फ़ ताँगे ही चलते थे, लेकिन जब मौलू तीन-चार मील चलकर भीलोवाल के पास पहुँचा, जहाँ मोटर लारियाँ भी तशरीफ़ लाती थीं और बकरियों और भेड़ों का एक रेवड़ 'मैं-मैं' 'भैं-भैं' करता हुआ कस्बे से निकला और रात भर बाड़े में बन्द रहने के बाद चंचल और शोख़ बकरियाँ (जो माएँ न बनी थीं और जिनके स्तन इतने भारी न थे कि उनके नीचे थैली की ज़रूरत पड़े) और जीवन की कटु-वास्तविकता से अनभिज्ञ मेमने कुलाँचें भरने लगे तो मौलू को इस मैदे की यथार्थता का पता लगा—गर्द इस तरह उड़ी कि उसके लिए आँख खोलना और मुड़कर अपने बच्चों को देखना तक असम्भव हो गया।

जब तूफ़ान कुछ थमा और बकरियों और भेड़ों की आवाज़ों को दबाती हुई चरवाहों की कर्कश गालियाँ श्रवण-शक्ति की सीमा से परे चली गयीं तो मौलू सड़क को पार करके दूसरी ओर गेहूँ के कटे हुए खेत में जा खड़ा हुआ। गठरी उसने उतारकर धरती पर रख दी, तहमद और कमीज़ को अच्छी तरह झाड़कर उसने सिर से पगड़ी उतारी और उसे भली-भाँति झाड़ा; कमीज़ के दामन को उलटा करके उससे मुँह पोंछा; फिर पगड़ी बाँधी और अपने बीवी-बच्चों को आवाज़ दी कि वे भी सड़क के इस किनारे आ जायँ।

धूल जैसे दायीं ओर धरती और आकाश के मध्य जाकर लटक गयी थी। एक लम्बी-सी लकीर वहाँ बनी हुई थी। ज्यों-ज्यों रेवड़ आगे बढ़ता जाता था;

यह लकीर भी बढ़ती जाती थी। इस बढ़ती हुई लकीर की ओर देखकर और दिल-ही-दिल में चरवाहों को कई अश्लील गालियाँ देकर आख़िर मौलू ने कहा, "बदतमीज़! नहीं जानते कि रास्ते में शरीफ़ लोग जा रहे हैं, ज़रा ख़बरदार ही कर दें कि भई एक तरफ़ हो जाओ। बस उड़े चले जाते हैं, जैसे मुहिम सर करने जा रहे हों—!" उन्हें एक भारी-भरकम गाली और अपनी मूँछों को प्यार देते हुए उसने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर लिया।

'शरीफ़' से मौलू का क्या मतलब था—यह बात उसे स्वयं मालूम न थी। वह 'काकड़ाँ' का तेली था—गाँव के इस किनारे, जहाँ बरगद का एक महान पेड़ बढ़कर आधे जौहड़ को अपने अधिकार में ले चुका था, उसने एक छोटा-सा कोल्हू लगा रखा था। जौहड़ के किनारे-किनारे रूड़ी[1] के ढेर लगे हुए थे। कभी जब वर्षा होती तो जौहड़ का पानी अपने किनारों के ऊपर से बह निकलता, मार्ग अवरुद्ध हो जाते, टाँगें घुटनों तक कीचड़ में धँस जातीं और रूड़ी के ढेरों की दुर्गन्ध बरगद के साये की नमी में जैसे वहीं जमकर रह जाती —लेकिन अपने जीवन के पचपन वर्ष मौलू ने इसी स्थान पर गुज़ारे थे! गाँव से बीस मील परे क्या होता है, इसकी उसे कभी ख़बर न हुई थी। जीवन में शायद तीन-चार ही ऐसे अवसर आये थे, जब उसे ऐसे धुले हुए कपड़े पहनने को मिले थे। ईद पर हर साल वह अवश्य कपड़े बदला करता था, किन्तु उसका कपड़े बदलना यही होता कि नंगे बदन रहने के बदले वह उस दिन कमीज़ भी पहन लेता या बीबाँ अधेले के रीठे लेकर उन्हें मल डालती, नहीं उसकी आयु तो तेल में सने हुए काले, चीकट कपड़ों में गुज़र गयी थी। कपड़ों में क्या—आयु का अधिकांश भाग तो उसने केवल एक तहमद में गुज़ार दिया था। जिस तरह पास रहते हुए भी जौहड़ के गन्दे पानी और उसके किनारे लगे हुए गन्दगी के ढेरों में उसके लिए कोई दुर्गन्ध न रही थी, इसी तरह तेल और पसीने से तर, गन्दे, मैले, जीर्ण-जर्जर कपड़ों के लिए भी उसकी संज्ञा मर गयी थी। रही गर्द, तो मात्र तेल के काम से इस गाँव में आजीविका की सूरत न देखकर, उसने वहीं

[1]— रूड़ी = गन्दगी।

कोल्हू के एक ओर, चाक लगा रखा था जहाँ वह घड़े, कुज्जे, लोटे, हाँड़ियाँ, मटके बनाया करता था। वह जाति से कुम्हार था या तेली?—इस बात का स्वयं उसे पता न था। अपने दादा और फिर पिता को उसने यही काम करते देखा था और जब से उसने होश सम्हाला था वह यही काम किये जा रहा था। जब उसके हाथ तेल में न होते तो मिट्टी में होते। रही शिक्षा, तो क़ुराने-पाक की कुछ आयतों के अतिरिक्त (जो वह ग़लत उच्चारण के साथ बड़ी तन्मयता से पढ़ा करता था) उसने वे सब गालियाँ सीखी थीं जो उसके दादा, फिर बाप और फिर बड़े भाई दिया करते थे। किन्तु आज इस मिट्टी और इस वातावरण के विरुद्ध, जिसमें कि वह जन्मा, पला और परवान चढ़ा, जो ऐसी घृणा की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गयी और वह अर्ध-नग्न, जीर्ण-शीर्ण तहमदें पहने, अपने कपड़ों के अभाव की ओर से बेपरवाह चरवाहों को 'बद-तमीज़' और 'असभ्य' समझने लगा तो इसका कारण था। पहले तो यह कि वह अपने उस छोटे भाई के लड़के की शादी में शामिल होने के लिए जा रहा था जो लाहौर में रहता था और देहाती की अपेक्षा अधिक शहराती हो गया था। फिर देहातियों के लिए शहर वाले शरीफ़ होते हैं और चूँकि वह स्वयं एक शरीफ़ आदमी के लड़के की शादी में जा रहा था, इसलिए वह भी शरीफ़ ही था, फिर यह कि उसने अत्यन्त साफ़-सुथरे कपड़े पहन रखे थे—और शराफ़त तो एक सापेक्ष-सी चीज़ है—शरीफ़ वह है जो शरीफ़ नज़र आये और 'काकड़ाँ' में रहते हुए वह जो कुछ भी हो, इस रास्ते पर जाता हुआ वह काफ़ी शरीफ़ और प्रतिष्ठित दिखायी दे रहा था।

वैरोके के निकट एक खाल[1] पानी से भरी, किसी बड़े अजगर की भाँति मज़े से रींग रही थी। मौलू ने उसे पार किया, फिर गठरी रखकर हाथ बढ़ा, बच्चे को थामा और अपनी पत्नी को खाल पार करने में सहायता दी। रहमाँ पहले स्वयं छलाँग मारकर इधर आयी, फिर उसने फ़ज्जे को पार उतरने में

१—खाल = रजबहा।

मदद दी, किन्तु लहराँ के जूते की एक कील उभर आयी थी और उसकी दायीं एड़ी में घाव हो गया था। नीचे धरती गर्म लोहे की भाँति तप रही थी, इसलिए वह नंगे पाँव चलने का साहस न कर सकी थी और एड़ी उठाये, अपने दुपट्टे से गर्दन पर निचुड़ते हुए पसीने को पोंछती हुई, चली आ रही थी और बहुत पीछे रह गयी थी।

"अरी तू अब तक पीछे ही लटकती हुई चली आ रही है, पाँव तेरे टूट गये हैं क्या ?", और पल भर के लिए अपनी शराफ़त को भूलकर मौलू ने एक अश्लील गाली अपनी लड़की को दे डाली।

"मुझसे चला नहीं जाता," लहराँ ने जैसे रोते हुए कहा।

मौलू ने गठरी उठाकर जामुन के एक पेड़ के नीचे रख दी। "ला इधर, मैं इस कील को ठीक कर दूँ ! अभी ग्यारह-बारह मील हमें जाना है।"

बीबाँ अपने आँचल से अपने-आपको हवा करती हुई वहीं पेड़ के नीचे घास पर बैठ गयी और नन्हें को दूध पिलाने लगी।

रहमाँ ने खाल के पानी से मुँह धोया और गीले हाथ फ़ज्जे के मुँह पर फेरे। खाल पर पहुँचकर लहराँ ने जूते अपने बाप की ओर फेंक दिये और फिर फलाँगकर इस ओर आ गयी, किन्तु पाँव उसका अब भी लँगड़ा रहा था।

मौलू ने कील को देखा—उसकी पतली-सी नोक, जिसका मुर्चा घाव की नमी के कारण साफ़ हो गया था, किसी नववय के विद्रोही की तरह सिर उठाये चमक रही थी। कहीं से ईंट का एक टुकड़ा ढूँढ़कर मौलू ने उस नोक को तोड़ दिया। फिर निरन्तर चोटों से उसे बहुत ज़्यादा अन्दर धकेल दिया और मुँह पर पानी के छींटे मारकर उसे तहमद के दामनकी उल्टी तरफ़ से पोंछता हुआ कुछ क्षण सुस्ताने के लिए अपनी पत्नी के पास आ बैठा।

"वैरोके तो बस पास ही है, इस आमों के बाग़ के पीछे; यहाँ से सुनते हैं अटारी दस मील है। तो मज़े से तीसरे पहर वहाँ जा पहुँचेंगे।" और फिर ताँगे वाले की बात का ख़याल आ जाने से उसे हँसी आ गयी, "कमबख़्त अढ़ाई रुपये माँगता था। छः मील तो हम आ गये।"

"अढ़ाई रुपये," उसकी पत्नी ने कहा, "जैसे हमारे यहाँ रुपयों के ख़ज़ाने

हों। वहाँ जायँगे तो क्या हसन खाँ के बच्चों के लिए कुछ न लेकर जायँगे ?"

यह हसन ख़ाँ, जो अपने जीवन के १५ वर्ष तक गाँव में सिर्फ़ 'हस्सू' के नाम से पुकारा जाता रहा, लाहौर में ईश्वरसिंह सरकारी ठेकेदार का मेट था। जब लोपोके की नहर बननी शुरू हुई तो न जाने किस तरह, मौलू आज तक इस बात को नहीं समझ सका, हस्सू जाकर मज़दूरों में शामिल हो गया—छः आने दैनिक मज़दूरी पर। फिर ठेकेदार ईश्वरसिंह ने ख़ुश होकर उसे पाँच रुपये महीने पर मेट बना लिया, फिर आठ कर दिये और जब उस काम को ख़त्म करके ठेकेदार ईश्वरसिंह लहौर चला गया तो अपने इस विश्वसनीय मेट को भी साथ ले गया। उसी दिन से 'हस्सू' 'हसन ख़ाँ' बन गया था। गाँव में जब वह एक बार आया तो चौड़े पायँचों की शलवार, बोस्की की कमीज़ और सिर पर कुल्लेदार साफ़ा उसने पहन रखा था, जिसका तुर्रा एक फूल की तरह खिला हुआ था—मौलू चकित रह गया था और समझ न पाया था कि किस तरह उसके इस छोटे भाई ने इतना ओहदा और इतना इल्म प्राप्त कर लिया है!

इस जामुन की छाया में बैठे-बैठे, अपनी तहमद की गाँठ खोलकर मौलू ने सब पैसे निकाले। अधिकांश पर मिट्टी और तेल की काली तह जम गयी थी और यद्यपि धरती से निकालकर तहमद में बाँधने से पहले उसने उन्हें अच्छी तरह धो लिया था, तो भी तहमद का वह हिस्सा, जिसमें पैसे बाँधे गये थे, काला हो गया था।

यद्यपि घर से वह उन्हें गिनकर लाया था और यद्यपि चन्द पैसों के सिवा उनमें से कुछ अधिक ख़र्च न हुआ था, तो भी घास पर तहमद का एक पल्ला बिछाकर उसने उन्हें दोबारा गिना—चार रुपये और कुछ आने थे। और यह रकम उसने बड़ी कठिनाई से पैसा-पैसा करके साल भर में जमा की थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि दो साल में जमा की थी। ज्योंही हस्सू का लड़का आठ वर्ष का हुआ और उसकी सगाई हुई, उन्हें इस बात की चिन्ता हो गयी थी कि उसका निकाह बस अब समीप ही है, इसलिए उन्हें कुछ-न-कुछ बचाना चाहिए और चूँकि हस्सू लाहौर चला गया था और उसने यह भी जता दिया था कि

वह लड़के की शादी लाहौर ही करेगा, इसलिए वे इस विवाह में शामिल होने के लिए दो साल से कुछ-न-कुछ बचाने का प्रयास करते आ रहे थे और दो साल से ही बच्चे इस विवाह में शामिल होने के ख़याल से इस बात का ज़िक्र करके कि उन्हें वहाँ क्या-क्या खाने को और क्या-क्या उपहार स्वरूप मिलेगा, ख़ुश हो रहे थे। किन्तु गत वर्ष मौलू केवल दो रुपये बचा पाया था और इस वर्ष सिर्फ़ दो रुपये और कुछ आने।

और इन दो वर्षों में उसने कम परिश्रम नहीं किया। जितनी सरसों वह प्राप्त कर सकता था, उसने प्राप्त की थी और जितना तेल इर्द-गिर्द के गाँवों में बेचा जा सकता था, उसने बेचा था। अपनी सप्लाई को बढ़ाने के लिए उसने सरसों में सत्यानाशी मिलाने से भी संकोच न किया था और जब उसके ग्राहकों ने शिकायत की थी कि तेल बालों में ज़्यादा लगता है तो उसने बड़े गर्व से कहा था कि ख़ालिस कच्ची घानी का जो हुआ, नहीं नाख़ालिस तेल यदि लगाओ तो यह भी पता नहीं चलता कि बालों में कोई तेल लगा है या नहीं! फिर फ़सल के दिनों में उसने कटाई का काम भी किया था और पीर दौले शाह और क्रीम शाह की ख़ानकाहों पर लगने वाले मेलों में घड़ों और मटकों की दुकानें भी लगायी थीं, लेकिन इस पर भी वह गत दो वर्ष में यही कुछ बचा पाया था। और बिना सालन की रूखी रोटी के सिवा उन्हें कभी कुछ प्राप्त न हुआ था। यह ठीक है कि इस विवाह के ख़याल से उसने अपनी बीवी और बेटियों को गबरून की एक-एक कमीज़ और दरेस की एक-एक सुथनी सिलवा दी थी, स्वयं भी एक तहमद और साफ़ा ख़रीदा था और फ़ज्जे को भी एक तहमद ले दी थी, लेकिन इन सब के लिए तो वह भीलो शाह का कर्ज़दार था, जिससे उसने वादा किया था कि अगले वर्ष वह जितना तेल निकालेगा, उसकी दुकान में डाल देगा।

वहीं बैठे-बैठे मौलू ने हिसाब लगाना शुरू किया, "यदि हम अटारी से जाकर चढ़ें तो चार-चार आने तो मोटर का किराया लगेगा, इस तरह साढ़े चार टिकटों के......"

"लेकिन साढ़े चार किस तरह?" उसकी पत्नी ने बात काटकर कहा, "फ़ज्जे

का टिकट किस तरह लग सकता है, अभी कल का तो बच्चा है, तुम उसे ज़रा गोद में उठा लेना!"

"ये मोटर वाले एक ही शैतान होते हैं," मौलू ने कहना शुरू किया, "अगर माँगेंगे तो? सुना है, तीन साल से बच्चे का टिकट लगता है।"

"हाँ लगता है!" बीबाँ बोली, "वे न माँगें तो भी तुम दे देना!"

"तो ख़ैर एक रुपया टिकटों का सही और फिर शहर का मामला है। वहाँ हसन खाँ की शान होगी। पैदल घिसटते हुए उसके यहाँ कैसे जाया जायगा? पड़ौसी न कहेंगे—कैसे भिखमंगे रिश्तेदार हैं इसके। ताँगे तक पर नहीं आ सके। - तीन-चार आने ताँगे पर ख़र्च करने ही पड़ेंगे।"

बीबाँ को इस बात का विश्वास था और अपने बच्चों को भी उसने कई महीने पहले कह रखा था कि चचा के घर से उन्हें बहुत-कुछ मिलेगा, इसलिए उसने कहा, "एक रुपये की मिठाई हस्सू के बच्चों के लिए ले जाना, जब वे हमारे बच्चों को इतना कुछ देंगे तो हम किस तरह ख़ाली हाथ जायेंगे?"

"ख़ैर," मौलू हिसाब लगाकर बोला, "सवा रुपया वापसी पर ख़र्च आयेगा तो बाक़ी बड़ी मुश्किल से बारह आने-एक रुपया बचेगा।"

लहराँ ने अचानक कहा, "मेरे पाँव में घाव हो गया है, जूता मेरा बलकुल घिस गया है, मुझे जूता ले देना।"

रहमाँ बोली. "मेरी चुनरी फट गयी है, मुझे एक नयी चुनरी ले दो, चचा की लड़की के सामने क्या मैं यह फटी चुनरी पहनूँगी?"

मौलू की कमीज़ का दामन पकड़ते हुए फ़ज्जे ने कहा, "अब्बा हमें बूट ले देना!"

"चलो बैठो!" बीबाँ ने एक झिड़की दी। "सात-आठ दिन वहाँ रहना है! तो क्या अपने पास एक कौड़ी भी न रखेंगे? फिर लम्बा रास्ता, शरबत-पानी की ही ज़रूरत पड़ जाती है।"

लोपोके के मोड़ पर उन्हें एक ताँगा जाता हुआ मिला। लहराँ के जूते की कील फिर बाहर निकल आयी थी, लेकिन उस घायल दिल की तरह जिसमें कुन्द-सा मज़ाक भी छेद कर देता है, वह कुण्ठित, मुड़ी हुई कील लहराँ की

घायल एड़ी को और भी घायल कर रही थी और वह लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रही थी और काफ़ी पीछे रह गयी थी और फ़ज्जा भी चिल्लाने लगा था कि उसे उठा लिया जाय और धूप की शिद्दत से बीबाँ की गोद का बच्चा भी बेहाल होने लगा था।

मौलू ने बेपरवाही से ताँगे की ओर देखते और जैसे ईंट फेंकते हुए पूछा, "क्यों भई ?"

"कहाँ जाना है ?" ताँगा बिना रोके ताँगे वाले ने पूछा।

"अटारी !"

"पाँच-पाँच आने !"

"पाँच पाँच आने ?"

"तुम्हें क्या देना है ?"

लेकिन मौलू ने कुछ उत्तर न दिया। तहमद को फिर ऊपर खोंस, पगड़ी के शमले से गर्दन और मुँह का पसीना पोंछ, गठरी के बोझ से धीरे धीरे दबने वाली गर्दन को उठाकर वह चल पड़ा।

लहराँ और फ़ज्जे ने एक बार कहा, "अब्बा ताँगा..."

कड़ककर मौलू ने उन्हें चुप करा दिया। बीबाँ ने भी बच्चे को कन्धे से लगाकर झुलाते हुए, ओठों का गोला बनाकर उसमें ज़बान हिलाते हुए 'ओ...लो...लो' करना आरम्भ कर दिया और जब इस पर भी बच्चा न माना तो कमीज़ का बटन खोलकर उसने अपनी छाती निकाल उसके मुँह में दे दी।

सड़क बिलकुल कच्ची थी। सड़क तो उसे कहा भी न जा सकता था। किसी ज़माने में वहाँ ज़रूर सड़क रही होगी, किन्तु अब तो उसकी विशालता को देखकर उस पर किसी ऐसे दरिया का धोखा होता था, जिसके दोनों किनारे फैलते-फैलते आस-पास की ऊसर धरती में जा मिले हों—हाँ, दोनों ओर पराँह के निरर्थक टेढ़े मेढ़े पेड़ जिनके तने वर्षों के वर्षातप के कारण खोखले हो चुके थे और जो सड़क की सुन्दरता में वृद्धि करने की अपेक्षा उसकी कुरूपता ही बढ़ाते थे; जिनकी लकड़ी जलाने तक के काम न आती थी; जिनके पत्तों

को बकरियाँ तक न चरती थीं और जिनकी शाखाओं पर बये तक का घोंसला न था—इस सड़क के अस्तित्व की गवाही देते थे। और कहीं कोई बबूल का काँटेदार पेड़ अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओं को सड़क पर झुकाये हुए खड़ा था कि यदि गर्मी के ताप से जलता हुआ कोई व्यक्ति छाया में आने का प्रयास करे तो उसकी पगड़ी उतर जाय अथवा उसका चेहरा ज़ख़्मी हो जाय।

ईंट तो दूर, किसी कंकर तक का निशान वहाँ न मिलता था, इसलिए किसी पेड़ के तने पर रखकर किसी ढेले से गाड़ने के बावजूद जब कील बार-बार बाहर निकल आती थी और एड़ी का घाव बढ़ता जाता था और चलना उसके लिए प्रतिक्षण दूभर हुआ जा रहा था तो आख़िर तंग आकर लहराँ ने जूते हाथ में उठा लिये। धूल धधकती हुई राख की तरह जल रही थी और प्रायः जब गर्द में टख़नों तक पाँव धँस जाते तो समस्त शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी। किन्तु कील की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद जलन की इस लहर से अधिक कष्टदायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु इस पर भी वह सब से पीछे थी।

इतनी उमर बीत गयी थी, पर मौलू कभी इस सड़क पर न आया था। यदि उसे मालूम होता कि यह सड़क इतनी ऊबड़-खाबड़, वीरान और छाया-रहित है तो वह कभी इस ओर मुँह न करता—विशेषकर उस समय जब उसके साथ बच्चे थे—उसके कोल्हू पर तो बरगद की घनी छाया थी और निकटवर्ती देहात में कभी-कभी तेल लेकर जाने अथवा मिट्टी के घड़े-मटके लेकर भीलोवाल या वैरोके तक आने के अतिरिक्त उसने कभी इस ओर का सफ़र न किया था। उसकी दुनिया बरगद के एक घने पेड़ की छाया में बसती थी, जहाँ तपती-जलती हवाएँ शीतल हो जाती थीं और गर्म धूप भी ठण्डक पहुँचाती थी और कभी जब वह ख़ुदा के सामने नत-मस्तक होता और क़ुरान की आयतों को अपने ग़लत उच्चारण से पढ़ता तो ख़ुदा का जो अस्तित्व उसके सामने आता, वह कुछ उस बड़े घने बरगद ही-सा होता—बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला, सायेदार, अगनित घोंसलों को अपनी शाखाओं में छिपाये हुए—लेकिन यह तपती

वीरान दुनिया, हरियाली का एक तिनका भी नहीं और इस मरु में किसी जलते हुए तीर की तरह जलती-जलाती, तपती-तपाती यह सड़क! यदि उसे मालूम होता तो कभी बच्चों को यों साथ न लाता—कभी न लाता!

किन्तु इस ख़याल को उसने तत्काल अपने दिल से निकाल दिया और वह फिर अकड़कर चलने लगा। तहमद को झटका देने अथवा कमीज़ को झाड़ने का ख़याल उसे कब का भूल चुका था—कोई साइकिल-सवार या भूला-भटका राही भी गुज़रता तो उन पर मिट्टी की तह छा जाती और लू, जो कभी इधर-से-उधर और कभी उधर-से-इधर चलने लगती, शरीर में प्रवेश करके नसों तक को झुलसा रही थी और कभी-कभार कोई बगूला मिट्टी बरसाता हुआ निकल जाता था। तहमद का नीलाहट लिये सफ़ेद रंग अब मटियाला हो गया था। पगड़ी की भी वह दमक न रही थी और कपड़ों की उल्टी तरफ़ से चेहरे या गर्दन का पसीना पोछने के बदले अब वह सीधी तरफ़ ही से काम चलाये जा रहा था।

उससे कुछ अंतर पर उसकी पत्नी चली जा रही थी। उसके समस्त यत्न बच्चे को पुचकारने में लगे हुए थे, फिर रहमाँ थी—जिसे शायद उसके पड़ोसी ग्वाले नूरे का ख़याल इस चिल-चिलाती धूप की तपन को महसूस न होने देता था और शायद इस बरसती हुई आग में भी वह स्वप्न देखती चली जा रही थी—उसकी अंगुली थामे फ़ज्जा चल रहा था, जिसे कभी वह उठा लेती थी और कभी कमर, कन्धा या बाँह थक जाने पर फिर उतार देती थी—फूल-सा चेहरा उसका कुम्हला गया था; ओठ सूख गये थे; गन्दे-मैले हाथों से बार-बार मुँह का पसीना पोंछने के कारण उसके चेहरे पर कई दाग़ लग गये थे और चाल उसकी उत्तरोत्तर धीमी होती जा रही थी।

और इन सब के पीछे पूर्ववत् कभी जूता पहनती और कभी उतारती हुई लहराँ लँगड़ाती-लँगड़ाती चली जा रही थी।

नहर से उतरकर मौलू ने देखा—दायीं ओर एक बरगद का घना पेड़ है—मादा बरगद का, जिसका तना बहुत ऊँचा नहीं उठता, मोटी-मोटी, लम्बी-लम्बी, सिर को छूती हुई डालियाँ छतरी की तरह फैलती चली जाती हैं—उसकी

एक शाखा पर दो मोर बैठे हैं, निश्चिन्त और मस्त ! उनके लम्बे-लम्बे, चमकीले पंख धरती को छू रहे हैं और दूर किसी कुएँ की गाधी पर बैठा हुआ कोई जाट 'हीर वारिस शाह'[1] अलाप रहा है। उसकी सुरीली, बारीक, लेकिन ऊँची आवाज़ इस सूनी, ख़ामोश दुपहरी में गूँजती, लहराती हुई उस तक आ रही है :

घर अनान ने गल्ल कीती, भाबी इक जोगी नवाँ आया नीं ।
कन्नीं ओसदे दरशनी मुन्द्राँ ने, गले हैकला अजब सुहाया नीं ![2]

अतीत के किसी दूरस्थ प्रदेश से आने वाली स्मृति की तरह तरुण यौवन के वे दिन मौलू की आँखों के सामने घूम गये, जब वह अपने बरगद की शाखा पर बैठकर अथवा किसी आम या जामुन के तने से पीठ लगाये हीर वारिस शाह गाया करता था और उसके जी में आयी कि वह पूरे गले से तान लगाये :

फिरे ढूँढदा विच्च हवेलियाँ दे, कोई ओसने लाल गँवाया नीं !
हीरे किसे रजवंस दा ओह पुत्तर, रूप तुद्ध थीं दून सवाया नीं ![3]

किन्तु यह तान उसके मन में ही रह गयी। अपनी लम्बी दाढ़ी, अपने शरीफ़ लिबास और अपने पीछे चले आने वाले बीवी-बच्चों का उसे ख़याल हो आया और उसके हृदय से बरबस एक लम्बी साँस निकल गयी।

तभी फ़ज्जे ने रोते हुए सूखे गले से कहा, "अब्बा मुझे प्यास लगी है, अब्बा मुझे उठा लो !"

और मौलू ने मुड़कर देखा—लहराँ बेचारी थककर पराँह की एक टेढ़ी-सी जड़ पर बैठ गयी थी।

१—पञ्जाबी का अमर काव्य।

२—घर आकर ननद ने कहा कि ऐ भाभी, एक नया जोगी आया है। उसके कानों में दर्शनीय बालियाँ हैं और गले में हैकल शोभा दे रही है।

३—हवेलियों में वह ढूँढ़ता फिर रहा है, जैसे कि उसने कोई लाल खो दिया हो। ऐ हीर, वह तो किसी राजे का बेटा दीखता है, उसका रूप तुझसे भी सवाया है !

"मर गयी वहीं तू!" कड़ककर मौलू ने कहा।

लहराँ उठी और लँगड़ाती-लँगड़ाती चलने लगी। मौलू ने तब मुड़कर अपने बेटे को डाँटा कि ज़रा दम ले, सामने 'चौगावाँ' नज़र आ रहा है। वहीं चलकर लस्सी-पानी पियेंगे।

और चौगावाँ तक वे दोनों किसी-न-किसी तरह चलते आये थे। लस्सी-पानी से अधिक उनके सन्तोष का कारण उनका यह ख़याल था कि अब्बा वहाँ से अवश्य ताँगा लेंगे। किन्तु जब कुछ सुस्ताने और सूखी रोटी को पकौड़ों के साथ (जो उनके अब्बा ने अड्डे से लिये थे) पानी की सहायता से पेट में पहुँचाने के बाद उन्हें फिर मार्च का आदेश मिला तो चल तो वे पड़े, लेकिन मार्च नहीं कर सके। चौगावाँ से 'वनीके' तक इस मार्च में कई हाल्टिंग-स्टेशन आये, जबकि वे एक बीमार थके हुए घोड़े की तरह अड़ गये और झिड़कियाँ, गालियाँ या एक-दो चाँटे खाकर फिर चल पड़े, किन्तु वनीके के मोड़ पर जो वे एक बार रुके तो फिर नहीं बढ़े। थप्पड़ खाने पर भी फ़ज्जा टस-से-मस न हुआ और गालियाँ खाकर भी लहराँ बैठी दुपट्टे से आँसू पोंछती रही।

ताँगे वाले से मौलू ने बिलकुल ही न पूछा हो, यह बात नहीं! पूछा था, किन्तु बिना सवार होने के ख़याल से। और यह जानकर कि लोपोके से चौगावाँ तक गर्द का वह दरिया पार करने के बावजूद अभी तक किराये में मात्र एक आने की कमी हुई है और यह जानकर कि आगे सड़क पक्की है और कहीं-कहीं शीशम के पेड़ भी हैं, वह चल पड़ा था।

जब थप्पड़ खाकर फ़ज्जा रोने लगा, लेकिन उठा नहीं, तब बीबाँ ने उसे प्यार देकर उठाना चाहा और नन्हे को रहमाँ के हवाले करके उसे गोद में ले लिया। मस्तक पर हाथ फेरते ही वह सहमकर पुकार उठी:

"देखो तुम इसे पीट रहे हो, इसका पिण्डा तो भट्ठी बना हुआ है!"

और तब ज्वर के वेग से तपे हुए लड़के के चेहरे को देखकर मौलू पिघल उठा और उसने अनिच्छापूर्वक जाते हुए एक ताँगे को रोका और अटारी का किराया पूछा।

"चार-चार आने," ताँगे वाले ने उत्तर दिया।

"चार-चार आने, लेकिन इतना तो चौगावाँ से माँगते थे!"

"तुम क्या देते हो?"

"एक-एक आना ले लो, तीन-साढ़े तीन मील हम चल भी तो आये हैं!"

ताँगेवाले का ताँगा तो भरा हुआ था, इसलिए उसे सवारियों की उतनी ज़्यादा परवाह न थी, "तो वहीं से जाकर चढ़ आओ," उसने कहा और हण्टर घुमाया।

"छै-छै पैसे ले लो।"

"ओ तेरी माँ मर जाये!" हण्टर घोड़े की पीठ पर पड़ा और वह चल पड़ा।

"दो आने!"—

"अढ़ाई आने!"—उसने अपने कण्ठ की पूरी आवाज़ के साथ पुकारा।

ताँगा काफ़ी दूर जाकर रुक गया। सवारियाँ तो पूरी थीं, किन्तु 'भागते-भूत की लँगोटी ही सही' के अनुसार ताँगे वाले ने ये दस-बारह आने छोड़ने उचित न समझे।

रहमाँ से बच्चे को लेते हुए चिन्ता-भरे स्वर में बीबाँ ने जैसे अपने-आप से कहा, "इसका बदन भी गर्म हो रहा है, अल्लाह ख़ैर करे!" और वह ताँगे की ओर बढ़ी।

यद्यपि जहाँ दो की जगह थी, वहाँ चार बैठे और साँस लेना तक मुश्किल हो गया तो भी सब ने एक तरह से सुख की साँस ली।

जब पलक झपकते ही (कम-से-कम मौलू को ऐसा ही मालूम हुआ) अटारी का मोड़ आ गया और ताँगे वाले ने कहा कि अगर जल्दी चढ़ना चाहते हो तो यहीं उतर जाओ, क्योंकि यहाँ से मोटर जल्दी मिलती है तो मौलू के दिल को सख़्त धक्का लगा।

"अड्डा आ गया?" उसने पूछा।

"अड्डा तो आगे है, लेकिन यहाँ से जल्दी मोटर मिल जायेगी। अड्डे पर बहुत देर बैठना पड़ेगा, वहाँ और लोग भी होते हैं और आजकल ट्रैफ़िक

पोलीस भी बड़ी सख़्त हो गयी है।"

ट्रैफ़िक पोलीस क्या बला है, यह बात तो मौलू की समझ में बिलकुल नहीं आयी। उसने भ्रू भंग करके ताँगे वाले की ओर देखते हुए कहा, "यह चलाकियाँ मैं सब समझता हूँ।"

किन्तु जब ताँगे में बैठी हुई दो सवारियाँ वहीं उतर पड़ीं और जब दूसरों ने भी कहा कि अगर लारी जल्दी पकड़नी है तो यहीं उतर पड़ो, तो वह भी उतरा, किन्तु सड़क पर पाँव रखते ही वह गरजा, "बस यहीं तक लाने के बारह आने तुम माँगते हो!"

ताँगे वाले ने बेपरवाही से कहा, "तुम्हारी मर्ज़ी है, तुम अड्डे तक चले चलो!"

मौलू का जी चाह रहा था, इस पाजी ताँगे वाले को उतार कर सड़क पर पटक दे। उसने चीख़कर कहा, "तुम लुटेरे हो!"

ताँगे वाले ने हण्टर उठाया, "ज़बान सम्हालकर बात करो मियाँ!"

तभी बीबाँ ताँगे से उतरकर दोनों के मध्य आ खड़ी हुई, "तैश में न आओ भाई, हम पैसे मारकर न ले जायँगे, आदमी आदमी तो देख लिया करो तुम!"

मौलू कोई बड़ी अश्लील गाली देने लगा था, पर यह सुनकर गाली देने के बदले उसने वही काले स्याह, अड़तालीस पैसे ताँगे वाले के हाथ पर गिन दिये और शहीदी भाव से बच्चों को उतारने लगा।

"बारह आने तो इसे दे दिये, अब वहाँ किस तरह काम चलेगा?" जाते ताँगे की ओर देखते हुए बीबाँ ने जैसे अपने-आप से कहा।

मौलू चीख़कर कुछ कहने ही लगा था कि उसकी दृष्टि अपने नन्हे बच्चे की ओर चली गयी, जिसका स्याह चेहरा ज्वर के वेग से और भी स्याह हो रहा था। उसने उसके माथे पर हाथ रखा, कुर्ता उठाकर पेट को देखा, "बदन तो इसका जल रहा है।" उसने कहा और फिर आती हुई एक मोटर से उन्हें बचाने के लिए अपने बीवी-बच्चों को एक तरफ़ कर, वह उन्हें किनारे पर लगे हुए शीशम के साये में ले चला।

"अरे मौलू तुम किधर ?" आश्चर्य से पेड़ के नीचे बैठे हुए एक व्यक्ति ने पूछा ।

"अरे भाई, हसन के लड़के की शादी में लाहौर जा रहा था," मौलू ने निराशा-भरी आवाज़ में कहना शुरू किया, "रास्ते में लड़को को बुख़ार ने आ दबाया ।"

"कहाँ जा रहे हो वहाँ लाहौर में ?"

"मुज़ंग में हसन रहता है, वहीं जाना होगा । न हुआ भाई ताँगा कर लेंगे, तीन-चार आनों की बात है, सो भाई दे देंगे !"

"तीन-चार आने !" वह हँसा, "तुम लाहौर कभी गये नहीं, एक रुपये से कम में वहाँ ताँगा न जायगा ।"

मौलू ने बड़ी निराश दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा, जो शायद कह रही थी कि एक रुपये की मिठाई हसन के बच्चों के लिए भी लेनी है और फिर वापस आने के लिए भी पैसे चाहिएँ और बीबाँ की निगाहें शायद कह रही थीं कि मुए ताँगे वाले ने याही हमारे बारह आने ठग लिये ।

"तुम किधर आये थे नवाब ?" मौलू ने पूछा ।

"भीलो शाह की बोरियाँ स्टेशन पर छोड़कर आ रहा हूँ !"

"तो अब वापस जा रहे हो ?"

"चला ही जा रहा हूँ, याही ज़रा दम लेने के लिए रुक गया था !"

तब फिर मौलू ने बीबाँ की ओर और बीबाँ ने मौलू की ओर देखा और मौलू ने कहा, "क्या कहूँ यार बच्चा को बुख़ार ने आ दबाया है, हस्सू ने तो बहुतेरा लिखा था कि बीवी-बच्चों के साथ आना, लेकिन यहाँ तक आते-आते बच्चे बीमार हो गये, लहराँ का पाँव ज़ख्मी हो गया है फ़ज्जे और और चिराग़ का पिण्डा गर्म तवा बना हुआ है, सोचता हूँ, वहाँ कहीं तकलीफ़ बढ़ न जाय । शादी का मामला है, खाने-पीने में पहरेज़ रहता नहीं, और फिर वहाँ वह बात थोड़े ही है जो अपने घर में है । डाक्टर......"

"ये डाक्टर तो अच्छे-भले को बीमार कर देते हैं ।" नवाब ने कहा ।

"अरे बाबा उन तक हमारी पहुँच कहाँ ?" और फिर एक बार पत्नी की ओर

देखकर उसने नवाब से कहा, "तुम एक मेहरबानी करो नवाब, इन सब को ले जाओ। मुझे तो जाना ही होगा, कल बरात चढ़ेगी!" और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने बीवी-बच्चों को बैलगाड़ी पर चढ़ने का आदेश दिया।

नवाब गाड़ी पर आ बैठा।

"रास्ते में भीलोवाल के निरंजनदास हकीम से कुछ दारू लेती जाना!", उसने गाड़ी के पीछे चलते हुए अपनी पत्नी से कहा।

तभी दूर सड़क पर अमृतसर की ओर से एक लारी आती हुई दिखायी दी।

मौलू ने जल्दी-जल्दी अपने बच्चों का प्यार लिया।

फ़ज्जे के जलते हुए मस्तक को चूमा, "हम तुम्हारे लिए बूट लायेंगे।"

लहराँ के सिर पर हाथ फेरा, "तुम्हारे लिए जूता लायेंगे!"

रहमाँ को डाँटा कि बच्चों का ख़याल रखना और माँ से लड़ना नहीं।

फिर वह गठरी उठाये भागता हुआ-सा सड़क पर आ खड़ा हुआ और उसने आती हुई लारी को रोकने के लिए हाथ बढ़ा दिया।

मौसी

"मौसी सुस्त है, मौसी भुलक्कड़ है, मौसी वज्र-मूर्ख है, मौसी सुनती नहीं, मौसी के मारे जान आफ़त में है......"

और मैं अपनी बीवी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए मौसी की और भी ऐसी 'खूबियों' की ओर संकेत करता हूँ, जिन पर पत्नी की दृष्टि नहीं जाती कि वह घोर गर्मी में भी अपनी कोठरी में सोती है, साबुन देने पर भी कपड़े नहीं धोती, लाख चिल्लाओ, उत्तर नहीं देती और अपनी उसी मन्थर-गति से चले जाती है.....

"तो इसे निकालकर ढंग का नौकर क्यों नहीं रखते ?" सहसा पत्नी मेरी बात काटकर ताना देती है।

और मेरा सारा जोश ठंडा पड़ जाता है। मैं चुप हो जाता हूँ। बात का पहलू बदलने की कोशिश करता हूँ या चुपचाप वहाँ से खिसक जाता हूँ।

मौसी मझोले क़द और दोहरे बदन की अत्यन्त काली और कुरूप स्त्री है। दाँत उसके तम्बाकू खाते-खाते घिस गये हैं और सुस्त इतनी है कि पाँच मिनट का काम आधे घंटे में करती है। साधारणतः मैं ऐसा नौकर कभी न रखता, पर विभाजनोपरान्त अपनी बीमारी से किसी तरह बचकर जब इलाहाबाद आया तो जिस प्रकार महँगे किराये का मकान लेने की सकत न थी, उसी प्रकार महँगा नौकर रखने का हौसला न था। तीन महीने की दौड़-धूप के बाद, ख़ुसरोबाग़ के निकट एक बँगले के पिछवाड़े, एक छोटी-सी कॉटेज मिली। मौसी उसी के बराबर सर्वेंण्ट्स-क्वार्टर्ज़ में रहती थी। बेकार थी। सात रुपये महीने पर काम करने को तैयार हो गयी। उसका भानजा, जो बँगले के मालिक

के यहाँ बावर्ची था, उसे मौसी कहकर पुकारता था, इसलिए हम सब भी उसे मौसी ही कहने लगे।

इन आठ बरसों में धीरे-धीरे यद्यपि मकान तो बढ़कर ग्यारह कमरों का हो गया, बावर्ची नया नहीं आया। मौसी बदस्तूर मौजूद है। पगार उसकी तिगुनी हो गयी है, पर काम वह और भी ढीला करने लगी है। कई बार उसकी सहायता को नौकरानी रखी है, पर किसी दूसरे को वह किचन में फटकने नहीं देती और स्वयं ठीक से काम नहीं करती।

हमारी चिल्लाहट अथवा झल्लाहट का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। अपनी गति को वह रंचमात्र नहीं बदलती और मौनरूप तथा मन्थर-गति से काम किये जाती है। कभी जब ज़बान खोलती भी है तो हमारे चिल्लाने या शोर मचाने का उसके उत्तर में कोई प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता—न आम नौकरों के स्वर में झलकनेवाली खीझ, न क्रोध, न चिड़चिड़ाहट, न गुस्ताख़ी!

"......मौसी यह आज तूने फिर अचार नहीं रखा।" मैं लंच के वक्त चिल्लाता हूँ, "तुझसे बीस बार कहा है कि खाने को उस वक्त बुलाया कर, जब सब कुछ मेज़ पर रख दिया हो। अब जितने में तू अचार रखेगी, मैं आधा खाना ख़त्म कर दूँगा।"

"भुलाय गये भइय्ये।" और वह डोली से अचार की प्लेट निकालती है, लेकिन प्रायः प्लेट में अचार ख़त्म होता है और वह स्टोर से लाने जाती है और जब आधे घंटे बाद अचार लेकर लौटती है तो मैं उठ चुका होता हूँ।

"...मौसी, यह तूने फिर प्लेटें गीली ही मेज़ पर रख दीं, तुझसे बीस बार कहा है, झाड़न ला-लाकर दिये हैं, पर तू कभी नहीं पोंछती।" मेरी पत्नी कहती है।

"पोंछत तो हैं बहू!"

बहू का पारा चढ़ जाता है। "यह पोंछी है। देख, यह पोंछी है।"

और वह गीली प्लेट उसकी आँखों के आगे करती है।

मौसी ख़ामोशी से प्लेट ले लेती है। "ए के हमके दइ दे, तू दूसर लइ

ले।" यह कहते हुए वह दूसरी प्लेट पत्नी को दे देती है।

"...मौसी, तीन-चार दिन हुए फल लाया था। एक दिन खाये फिर तूने मेज़ पर नहीं रखे।"

"अरे तो भइय्ये, का हम खाय गये।"

"तो निकाल!"

लेकिन फल सड़ चुके होते हैं और मैं चिल्लाता हूँ कि हमें देना भूल गयी थी तो ख़ुद ही खा लेती। अब ये किस के काम आयेंगे?"

वह कुछ नहीं कहती। जाकर उन्हें कूड़े की टोकरी में फेंक आती है।

"...मौसी!...मौसी!"...

मेरी पत्नी अचानक सालन परोसते-परोसते उठकर चिल्लाती है। मौसी कोई आवाज़ नहीं देती।

"...मौसी!...मौसी!"...

कई बार चिल्लाने पर मौसी मन्थर-गति से झूमती-झामती किचन से आती है।

"कानों में क्या रुई डालकर बैठी है, इतनी आवाज़ें दीं। जवाब क्यों नहीं देती?"

"अरे आवत तो रहे बहू।"

"आवत तो रहे बहू!" पत्नी आँखें तरेरती और मुँह बनाती है, "होंठ क्या सी रखे हैं? कहा नहीं जाता कि आ रहे हैं।"

इस सब का वह कुछ उत्तर नहीं। तम्बाकू का रस पपोलते हुए ठोड़ी को ज़रा आगे बढ़ाकर केवल धीरे-से इतना पूछती है, "का कहत हौ?"

"कहते हैं तेरा सिर।" पत्नी झल्लाती है। यह आज फिर नमक नहीं डाला तरकारी में। कितनी बार कहा है कि अलग कटोरी में डालकर चख लिया कर।"

"अरे बहू डाले तो रहे।"

"डाले तो रहे! तो क्या हमने उड़ा दिया। ले, खाकर देख! है रत्ती

भर भी ?" और वह सालन का डोंगा उसके आगे करती है।

मौसी अप्रतिभ नहीं होती। सिर को अजीब भुल्लकड़ ढंग से हिलाते हुए कहती है, " डाले तो रहे, कमती हुई गवा होई।"

अब मैं चिल्लाता हूँ, "कमती क्या, ज़रा भी नहीं! एक दम फीका है!!"

"तो भुलाय गय होब भइय्ये।"

और वह चुपचाप साइडबोर्ड से नमकदानी उठाकर हमारे आगे रख देती है।

और यह सब रोज़ होता है। अचार रखा हो, प्लेटें साफ़ हों, फल ठीक हों, नमक कम न हो तो सुराही में पानी न होगा, रोटी पपड़ी-सी सूखी होगी; रायता बनाकर रखा होगा, पर देना भूल गयी होगी; दूध न जमाये जाने के कारण फट गया होगा, या कुछ और गड़बड़ कर रखी होगी। साधारणत: एक-आध बार चिल्लाकर अथवा चिल्लाना बेकार समझ मन ही-मन खीझकर हम चुप हो जाते हैं और अपने काम में लग जाते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता कि हमारे सब्र का प्याला लबालब भरकर छलक उठता और मस्तिष्क संतुलन खो बैठता है। व्यर्थ जानते हुए भी हम चिल्लाये जाते हैं।

......दफ़्तर घर ही में है। पत्नी प्रकाशन का सारा काम देखती है, पर कई बार मुझे उसके साथ जाना पड़ता है। समय की पाबन्दी नहीं रहती। कोई किताब छपने वाली है। हम कागज़ और प्रेस की व्यवस्था करने बाहर गये हुए हैं। आते-आते डेढ़-दो बज जाते हैं। भूख के मारे पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं। बीमारी के बाद मैं तो कुछ ऐसा कमज़ोर हो गया हूँ कि समय से खाना न खाऊँ और भूख लग आये तो कुछ सुझाई नहीं देता। वे दिन जब यार-दोस्तों में बैठे गप्पें लगाते सुबह से शाम हो जाती थी और खाने की सुधि तक न रहती थी, या कोई रोचक उपन्यास खाने की याद भुला देता था, अब हवा हो गये हैं। रिक्शा में घर लौटते हुए खाने का कमरा और मेज़ पर लगी प्लेटें और सालन की सुगन्ध मन-मस्तिष्क को घेर लेती है।

रिक्शा से उतरते ही चिल्लाता हूँ, "मौसी खाना रक्खो!"

"रक्खिथ हैं भइय्ये।"

खाना रखा जाता है। हम खाने बैठते हैं, लेकिन अभी आधा ख़त्म नहीं करते कि अचानक मालूम होता है, रोटियाँ ख़त्म हो गयीं हैं।

"मौसी," मैं या पत्नी चिल्लाती है, "रोटियाँ पूरी नहीं पकायीं ?"

"गर्म-गर्म लाय रहे हैं।" वह किचन ही से चिल्लाती है।

और सहसा खाने का सब मज़ा किरकिरा हो जाता है, क्योंकि मौसी के 'गर्म-गर्म रोटियाँ लाने' का मतलब हम दोनों बख़ूबी समझते हैं।

पत्नी चिल्लाती है कि जब दो बज गये थे तो उसने सब पका-उकाकर क्यों नहीं रखीं ?

और मैं कड़कता हूँ कि वह बार-बार क्यों एक ही बात कहलवाती है, क्यों बात उसकी समझ में नहीं आती, गर्मी में अन्दर सोती है, उसके भेजे में अक्ल रह कैसे सकती है...

और पन्द्रह-बीस मिनट तक चिल्लाकर और प्रतीक्षा करके थक-हारकर, हम खाना बीच ही में छोड़, रसोई-घर में जाते हैं तो देखते हैं कि मौसी एक हाथ से आटा सान रही है और दूसरे से अँगीठी को हवा कर रही है।

"तूने रोटी न पकायी थी तो आटा क्यों नहीं साना ?" पत्नी चिल्लाती है।

"अब आग जलाने बैठी है," मैं गरजता हूँ, "अढ़ाई बज गये हैं, गर्म रोटियाँ खिलानी थीं तो अँगीठी तो गर्म रखती।"

लेकिन मौसी हमारी कड़क और गरज का कोई उत्तर नहीं देती, "हुई जात है, हुई जात है," ओठों से हमें तसल्ली देते हुए वह उसी तरह एक हाथ से आटा सानती हुई दूसरे से पंखा किये जाती है।

हम झल्लाये हुए वापस खाने की मेज़ पर आ बैठते हैं। मौसी के ख़िलाफ़ शिकायतों के दफ़्तर खुल जाते हैं और तान आख़िर पत्नी की इसी बात पर टूटती है—

"कोई ढंग का नौकर रखिए। इस कमबख़्त के मारे तो जान आफ़त में है।"

और मेरी सारी झल्लाहट सहसा ख़त्म हो जाती है। क्रोध को दबाकर मैं चुप हो जाता हूँ।

पत्नी ताना देती है कि मैं मौसी से दबता हूँ। नया बावर्ची रखना नहीं चाहता।"

मैं मौन रहता हूँ और मौन आप जानते हैं आधी स्वीकारोक्ति के बराबर है।

......कभी ऐसा भी होता है कि बेड टी (Bed Tea) के बाद नाश्ता भी हो चुका होता है और मौसी दोपहर के खाने की सबील करने में मगन होती है कि कोई मित्र मिलने आ जाता है और मैं शिष्टाचारवश पूछ बैठता हूँ कि भाई चाय का प्याला आये ?

"क्या हर्ज है ?" मित्र उत्तर देता है।

और मैं वहीं से चिल्लाकर कहता हूँ, "मौसी दो प्याला चाय लाओ !"

और उस वक्त जब बातों का सिलसिला बड़े ज़ोरों से चल रहा होता है और मित्र ही का नहीं मेरा भी ध्यान किचन की तरफ़ लगा होता है कि चाय आ जाय, एक-एक प्याला पी लिया जाय तो बात-चीत या वाद-विवाद में कुछ गर्मी आये कि मौसी ट्रे में चाय लिये अपनी उसी मन्थर गति से आती है। मैं उसके हाथ से ट्रे लेता हूँ। लगातार बातें करते हुए पहले ज़रा-सी चाय डालकर प्याले गर्म करता हूँ, फिर प्यालों में चाय ढालकर, अपने में एक और मित्र के प्याले में, उससे पूछकर, एक या दो चमच चीनी डालता हूँ, लेकिन जब दूध का जग उठाने को हाथ बढ़ाता हूँ तो देखता हूँ कि जग नदारद है।

"ऐ मौसी !" चिढ़कर मैं चिल्लाता हूँ।

मौसी वही मैली धोती पहने, निचले ओठ में सुरती दबाये, निहायत इत्मीनान से, किसी तरह के जल्दी किये बगैर, आती है और खैनी से निचला ओठ भरा होने के कारण ठोड़ी ज़रा उठाकर पूछती है कि क्या बात है ?

"दूध नहीं लायी ?" मैं चिल्लाता हूँ।

"ऐ दूध कहाँ है भइय्ये !" मुँह ज़रा ऊपर उठाकर दोनों हाथ आगे को फैलाते हुए वह कहती है।

मैं निमिष भर उसकी ओर देखता हूँ। जी चाहता है कि उसका और अपना सिर नोच लूँ। कितनी बार समझाया है, लेकिन इस मूरख को अकल

नहीं आयी कि अतिथि बैठा हो तो ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। लेकिन किसी तरह क्रोध को पीकर, संयम से काम लेकर, पूछता हूँ, "नहीं था तो चाय क्यों बनायी। क्या दूध के बिना पहले कभी चाय पी है, जो अब पियेंगे। चाय बनाने से पहले क्यों नहीं मँगाया दूध?"

"कैसे मँगाते भइय्ये?"

अब संयम रख पाना असम्भव हो जाता है। क्रोध से चिल्ला उठता हूँ, "क्या दफ़्तर में सब लोग मर गये हैं, चपरासी कहाँ है?"

लेकिन मौसी इसका कोई उत्तर नहीं देती। चुपचाप तम्बाकू का रस पपोले जाती है।

"पुषी कहाँ है?" मैं अपने सम्बन्धी लड़के के बारे में पूछता हूँ, जो मेरी पत्नी के साथ प्रकाशन का काम देखता है।

मौसी उत्तर नहीं देती। मुटर-मुटर तके जाती है।

"और कोई नहीं था तो तूने मुझसे क्यों नहीं कहा, मैं ख़ुद जाकर बाज़ार से दूध ला देता। दूध नहीं था तो क्यों बनायी चाय?"

मित्र लाख कहता है कि यार मैं चाय पीकर चला था, तुमने पूछा तो मैंने योंही 'हाँ' कर दी, अब हटाओ इस किस्से को! लेकिन मैं लगातार चिल्लाये जाता हूँ। गुस्सा इस बात का नहीं कि चाय क्यों बनी, बल्कि इस बात का है कि जब घर में दूध नहीं था तो क्यों बनी? और यदि बन ही गयी थी और दूध के अभाव का पता बाद में चला था तो हमारे सामने क्यों आयी और मेहमान के सामने उसने क्यों कहा कि दूध नहीं है......और मैं चाय की ट्रे ठेल देता हूँ कि उठाओ और दनदनाता हुआ बाहर जाता हूँ और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता हूँ और चपरासी और पुषी और मेरी बीवी एक साथ दफ़्तर से बाहर निकल आते हैं और सब बात सुनकर मेरी पत्नी चपरासी को दूध लाने के लिए भेज देती है, आदेश देती है कि साइकिल पर जाय और पलक झपकते ले आये।

चपरासी को आदेश देकर पत्नी फिर अपने काम में जा लगती है और वापस आकर मैं फिर बातों का तार पकड़ने की कोशिश करता हूँ, लेकिन तनी

हुई नसों के कारण बातें चल नहीं पातीं। बार-बार इस बज्र-मूर्ख नौकरानी पर क्रोध आता है।

ऊब कर मित्र कहता है, "अच्छा यार मैं चलता हूँ, फिर आऊँगा।"

"नहीं, नहीं बैठो, चाय पीकर जाना।' मैं आग्रह करता हूँ।

विवश होकर मित्र फिर बैठ जाता है। मैं इधर-उधर की बात चलाने का प्रयास करता हूँ। लेकिन बात चल नहीं पाती।

तभी चपरासी सीधा वहीं कमरे में दूध का लोटा ले आता है।

"मैं दूध क्या करूँगा? उधर किचन में ले जा और मौसी से कह कि पानी गर्म करके नयी चाय बनाये और दूध भी गर्म करे।"

मित्र फिर एक बार कहने की कोशिश करता है..."हटाओ यार अब चाय..." लेकिन मैं हाथ बढ़ाकर ही उसे रोक देता हूँ।

"मौसी तो वहाँ नहीं।" चपरासी आकर ख़बर देता है।

"नहीं है तो देख कहाँ है? तम्बाकू खाने गयी होगी। उसकी बहन से पूछ!"

और बरामदे में निकलकर मैं ज़ोर से चिल्लाता हूँ......"मौसी"...... "मौसी!" और बेकली से वहीं बरामदे में इधर-से-उधर टहलता हूँ और मित्र पछताता है कि उसने चाय पीने के लिए क्यों 'हाँ' कर दी। मुफ़्त की बोरियत मोल ले ली।

तभी चपरासी आकर बताता है, "मौसी बाहर गयी है।"

"बाहर गयी है! क्यों बाहर गयी है?" मैं चिल्लाता हूँ, "उसे मालूम नहीं था कि मैंने तुझे दूध लेने के लिए भेजा है!"

"अब हम का बतायी।" चपरासी बेबसी से कहता है।

मैं लोहू के घूँट भर रहा होता हूँ, बीबी दफ़्तर से काम छोड़कर स्वयं रसोई-घर में जाकर पानी चढ़ाती है कि मौसी बड़े इतमीनान से, किसी तरह की जल्दी किये बगैर, उसी मन्थर गति से, झूमती-झामती बाहर से आती दिखायी देती है।

"मौसी तू किधर चली गयी थी? तुझे मालूम नहीं था कि मेरे दोस्त आये हुए हैं और मैंने चपरासी को दूध के लिए भेजा है।"

"अरे तो भइय्या बाहर गये रहे।"

और वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें निकाले, कुमारी अंतरीप-सी ठोढ़ी आगे बढ़ाये, तम्बाकू-भरे दाँत दिखाती हुई दोनों हाथ बढ़ा देती है।

'बाहर' का मतलब मैं समझ जाता हूँ, पर मेरा क्रोध शांत नहीं होता।

"बाहर गयी थी तो जाते-जाते पानी चढ़ा जाती।" मैं चिल्लाता हूँ।

मौसी ज़रा भी नहीं घबराती..."चढ़ाये देत हैं...चढ़ाये देत हैं!" कहती हुई उसी मन्थर गति से, वह किचन की ओर चल देती है।

शाम को मैं पत्नी से शिकायत करता हूँ तो वह उल्टा मुझे ही कोसने लगती है कि मैं कितनी बार कह चुकी हूँ, कोई ढंग का नौकर रखिए। इस कमबख़्त के मारे जान आफ़त में है। दूध चुक गया था या ग्वाला कम दे गया था तो मुझसे आकर कहती। मैं मँगा देती।

और पत्नी मौसी को बुलाकर डाँटती है।

"अब सारा दिन चाय बनावत-बनावत जान आफत में आय जात है।" वह प्रोटेस्ट करती है।

"सारा दिन चाय बनाने से, दूध न होने पर मेहमान के सामने भंडा फोड़ने का क्या सम्बन्ध है?" मैं चिल्लाता हूँ।

लेकिन यह बात मौसी की समझ में नहीं आती। वह रोने लगती है कि उसे छुट्टी दे दी जाय, इतना काम करने पर भी उसे डाँट पड़ती है और पत्नी कहती है, "हाँ, आप दूसरा नौकर ढूँढ़िए।"

लेकिन यहीं मैं दब जाता हूँ, मेरा सारा क्रोध जैसे एकदम ठंडा पड़ जाता है और मैं पैंतरा बदलकर उसे समझाने लगता हूँ कि छुट्टी देने दिलाने की बात नहीं, उसे खुद ख़याल रखना चाहिए कि मेहमान के सामने ऐसी बात कहने से घर की कैसी बेइज़्ज़ती होती है आदि आदि......

और ऐसे वक्त मेरे सामने हमेशा अपने एक मित्र की सूरत घूम जाती है। वे एक पंजाबी युवक हैं। चार-एक साल पहले कश्मीर में नियुक्त हुए हैं। मैं दो साल कश्मीर जाता रहा हूँ और उनके घर की हर गति-विधि से परिचित

हूँ। शादी अभी उनकी हुई नहीं है, घर में केवल माँ और एक पंजाबी छोकरा है। माँ कश्मीरी भाषा ज़रा भी नहीं समझती। और वह छोकरा है कि सिनेमा का फ़र्स्टक्लास फ़ैन है। सप्ताह में दो-तीन बार पिक्चर नहीं देख लेता तो उसे खाना हज़म नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि उन्होंने चाय पर कुछ मित्र बुला रखे होते हैं, पर वह मैटनी देखने चला जाता है। उसके आते ही माँ बेटा उस पर बरस पड़ते हैं। लेकिन वह माफ़ी माँगने या शेष काम निबटाने के बदले बाहर जाकर पनवाड़ी की दुकान पर बैठ जाता है। आध-एक घंटा तो माँ-बेटा झल्लाते रहते हैं। माँ कहती है कि जिनके नौकर नहीं होते उनका क्या काम नहीं चलता और बेटा निहायत दार्शनिक ढंग से घर के सब काम ख़ुद करने के लाभ पर अपने अमूल्य विचार प्रकट करता है और दोनों माँ-बेटा प्रोग्राम बनाते हैं कि नौकर को हटाकर वे कैसे घर के सारे काम ख़ुद करेंगे, बेटा कैसे एक दिन पहले ही शाम को वे सब चीज़ें लाकर रख दिया करेगा, जिनकी दूसरे दिन ज़रूरत होगी और माँ कैसे बिना नौकर की सहायता के काम चलायेगी...लेकिन मैंने सदा देखा कि जब रात का खाना पकता तो माँ नौकर के लिए बड़े प्यार से खाना पकाती और बेटे साहब उसे मनाकर लाते।

मेरी दशा अपने उस पंजाबी मित्र से भिन्न नहीं। मेरी बीवी स्वयं खाना न पका सकती हो, यह बात नहीं। वह इतना अच्छा खाना पकाती है कि एक बार शादी के बाद मैंने सोचा था उसे दूसरा काम न करने दूँगा। लेकिन जो स्त्री हेडमिस्ट्रेस के रूप में स्कूल का, जूनियर कमाण्डर के रूप में सैनिक विभाग का और प्रकाशक के रूप में एक प्रकाशन-गृह का सारा काम अपने कंधों पर ले सकने की क्षमता रखती है, उसे किचन की ग़ुलामी में फँसाये रखना, मेरे निकट अन्याय है। मैं स्वयं कोई काम न कर सकता होऊँ, यह बात भी नहीं। वर्षों घर में झाड़ू देने और कपड़े धोने के अलावा मैंने बर्तन मले और खाना पकाया है। लेकिन ऐसा भी समय आ जाता है, जब आदमी चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में मौसी-जैसी नौकरानी बड़ा महत्व पा लेती है।

शहर में दूसरे नौकरों का एकदम अकाल पड़ गया हो और मैंने नौकर

बदलने की कोशिश न की हो, यह बात भी नहीं। तीन बार मैं ऐसा करके देख चुका हूँ।

......एक बार मौसी पेट-दर्द का बहाना करके किसी रिश्तेदार से मिलने चली गयी। बीवी मेरी बीमार थी। लाचार एक दूसरा नौकर ढूँढ़ लाया। चुस्त और चाक-चौबन्द। दिन भर उसने इस तेज़ी और सफ़ाई से काम किया कि मैं और मेरी बीवी अश-अश कर उठे और हमें मौसी के दुर्गुण कई गुना बड़े होकर दिखायी देने लगे और पहली बार मालूम हुआ कि हम किस जाहिल के साथ दिन काटते रहे हैं। लेकिन दूसरी सुबह उठे तो नौकर साहब गायब। किचन में जाने पर मालूम हुआ कि तरकारी काटते-काटते कहीं गये हैं। जब दिन के बारह बज गये और वे तशरीफ़ न लाये तो चिन्ता हुई। खोज-खबर ली कि कहीं कुछ ले तो नहीं गये, तब पता चला कि मेरी मेज़ की दराज़ से पार्कर कलम, एक घड़ी और एक बटुआ गायब है।

......दूसरी बार जब मौसी बीमार पड़ी तो मैं एक ख़ानसामा ले आया, जिसके पास कई अंग्रेज़ों के सर्टिफ़िकेट थे। शाम की चाय हम पी चुके थे कि सहसा छः बजे के करीब एक मित्र आ गये और मैंने कहा कि दो प्याले चाय ट्रे में भिजवा दो। जब बड़ी देर तक चाय न आयी तो मैं स्वयं किचन में गया। "साब चाय के वक्त हम चाय देगा, सारा दिन हम चाय नहीं देगा।" और मैंने उसके सर्टिफ़िकेटों में एक और की वृद्धि कर उसे दूसरे ही दिन नमस्कार किया।

......तीसरी बार मौसी ने नोटिस दिया कि वह दो दिन के लिए एक शादी पर जायगी। चूँकि उसके दो और दस दिन में कोई अंतर नहीं, इसलिए मैंने एम्प्लायमेंट एक्स्चेंज को फ़ोन किया कि मुझे तत्काल एक कुक चाहिए। दोपहर ही को शक्ल से साईस लगने वाला एक पतला-दुबला मझोले कद का आदमी दफ़्तर की चिट लेकर आ पहुँचा। उसकी टाँगें परकार की तरह किंचित् बाहर को निकली हुई थीं। अपने क़द-बुत से कहीं बड़ा खुला गर्म कोट और पिचकी-सी गोल टोपी उसने पहन रखी थी। मौसी दोपहर का खाना पकाकर चली गयी थी। मैंने अधिक पूछ-ताछ न कर, उसे ले जाकर किचन दिखाया।

और समझाया कि किस प्रकार इस घर का काम चलता है।

"बस बाबू जी दो-एक दिन हम देख लें...फिर आपको कोई शिकायत न होगी।"

बरतन पड़े थे, सो उसने मल दिये। रोटी काफ़ी बची पड़ी थी सो उसने डट कर उस पर हाथ साफ़ किया। मैं दफ़्तर में चला गया। शाम को आया तो देखता हूँ कि रसोई-घर में व्यस्त होने के बदले कुक महोदय किचन के आगे की ख़ाली जगह में क्यारियाँ बना रहे हैं।

"अरे भाई तुम यह सब क्या कर रहे हो?" मैंने किंचित् खीझकर कहा, "चाय का वक्त हो गया है, कुछ चाय-वाय बनाओ।"

"सरकार एक बार बहूजी बनाकर दिखा दें तो हम सब बना दिया करें। कोई ज़्यादा पत्ती पीता है, कोई कम।"

"तो यह तुमने पहले क्यों नहीं कहा। यह सब तुम क्या कर रहे हो?"

"सरकार ख़ाली जगह है। मैंने सोचा क्यारियाँ बना दूँ। 'फ्लाग' यहाँ बड़ी बहार देगा, इधर 'डेलिया' की क़तार लग जायगी, उधर स्वीट सुलताना मुस्क-रायेगी और इस जगह......"

"तो क्या तुम माली हो?"

"सरकार, मैं टाइल (टाइल्ज़) साब के यहाँ साईस था, पर साब लोग सब इंग्लिस्तान चले गये। तब मैं माली का काम करने लगा। साब आप एक घोड़ा-गाड़ी रखिए, फिर हमारा काम देखिए!"

"तो क्या तुम कुक नहीं हो?"

"बहूजी सिखा देंगी तो वह काम भी सीख लूँगा।"

मतलब यह कि पन्द्रह दिन तक रोटी पकाने के बदले कुक महोदय क्यारियाँ बना कर उनमें फूल लगाते रहे। इतना ही ग़नीमत है कि जैसे-तैसे बर्तन मल देते थे। हमारा तो क्या पकाते—उनका खाना भी पत्नी को पकाना पड़ा। आख़िर यह वचन देकर मैंने उनसे मुक्ति पायी कि ज्योंही मैं घोड़ा-गाड़ी रक्खूँगा, उन्हें अवश्य याद करूँगा!

ऐसे वक्त में मौसी के सिवा हमें कहीं त्राण नहीं मिलता। वह सुस्त और

जाहिल है तो क्या हुआ, परले सिरे की ईमानदार, सहनशील और शान्त भी तो वह है। ऐसे नौकरों का मिलना, जिनमें मौसी के गुण तो हों, लेकिन दुर्गुण न हों, मेरे ख़याल में यदि असम्भव नहीं तो कठिन ज़रूर है। हम जैसे कमज़ोर नसों के आदमियों को जितनी जल्दी क्रोध आता है, उतनी ही जल्दी उतर भी जाता है। पर मालिक के क्रोध पर यदि नौकर को भी क्रोध आये तो मालिक का भगवान ही मालिक है। गुरु भी गर्म और चेला भी गर्म तो बात कैसे बने? मौसी का यह दुर्गुण कि लाख बके जाओ, उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती, मेरे निकट उसका सब से बड़ा गुण है। उसके कान पर जूँ रेंगने लगती तो ये आठ बरस कैसे बीतते, इसकी कल्पना भी कष्ट-प्रद है। मैं यह तो चाहता हूँ कि मौसी ठीक से काम करने लगे, लेकिन उसकी जगह दूसरा नौकर रखने की कल्पना नहीं करता। उसे भी जैसे इस बात का विश्वास है कि ये लोग दस नौकर रखें, मेरे बिना इनका काम नहीं चल सकता, जवाब देने के बावजूद, जब-जब मैंने उसे फिर बुलाया है, बिना ताँना-तिश्ना दिये चुपचाप वह आ गयी है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

हमारा जीवन कुछ ऐसा अनियमित है कि कोई भी चीज़ समय से नहीं होती। हम लाख प्रोग्राम बनाते हैं कि सुबह छः बजे उठेंगे; नहा-धोकर आठ बजे नाश्ता लेंगे, अव्वल तो बारह, नहीं तो साढ़े-बारह लंच पर बैठ जायँगे, चार-साढ़े-चार चाय और रात को आठ-साढ़े-आठ डिनर ले लेंगे। लेकिन अपवाद स्वरूप एक-आध दिन इस प्रोग्राम पर चले हों तो कह नहीं सकता, नहीं तो जिस दिन सुबह छः बजे उठने का प्रोग्राम बनाते हैं, उसी दिन रात को मित्र आ जाते हैं या सैर में देर हो जाती है या मेरा लिखने का मूड होता है या कहीं सभा अथवा डिनर अथवा कोई दूसरा प्रोग्राम होता है। एक-डेढ़ बजे सोते हैं, सुबह आठ बजे उठते हैं और सारे प्रोग्राम धरे-के-धरे रह जाते हैं।

आफ़िस घर में होने से कई बार ऐसा भी होता है कि लोग अपनी दुकान बन्द करके ज़रूरी आर्डर लेने आ जाते हैं अथवा अपने सब काम निबटा कर हमसे मिलने आ जाते हैं और हम अपनी सुविधा का ख़याल छोड़कर, चाबी

लेकर दफ़्तर चले जाते हैं और जल्दी सोने और जल्दी उठने का प्रोग्राम पूरा नहीं हो पाता।

फिर मेरी पत्नी को चाय पीने का बड़ा शौक है। 'हर समय चाय का समय है।' चाय कम्पनी का यह मॉटो उसने जैसे सहज ही अपने लिए अपना लिया है और जिस तरह अच्छे पीने वाले सदा यह पसन्द करते हैं कि जब वे पीने को बैठें तो अकेले न हों, उसी तरह मेरी पत्नी भी अकेले कभी चाय नहीं पीती और हालांकि मुझे कभी चाय की आदत नहीं थी, उसके इसी स्वभाव के फलस्वरूप मैं भी ख़ूब चाय पीने लगा हूँ। चूँकि चाय हर वक्त मिल सकती है और अँगीठी सुबह छः से रात के दस-साढ़े-दस तक सुलगती रहती है, इसलिए मित्र जब भी आयें मेरी पत्नी चाय बनवाती है। मित्रों की आवभगत भी हो जाती है और वह स्वय भी एक कप पीने का बहाना पा जाती है।

मौसी ने कभी आज तक (जब तक कि हमीं ने उसे ऐसा करने का आदेश न दे दिया हो) चाय बनाने से इनकार नहीं किया। यह और बात है कि उसे पाँच मिनट में चाय लाने को कहा तो वह आध घंटे में लाती है। कई बार (विशेषकर सर्दियों में) ऐसा भी हुआ है कि रात के साढ़े-दस-ग्यारह बजे जब मौसी रसोईघर बन्द करके जाने वाली होती है, मेरी पत्नी कॉफ़ी पीने की इच्छा प्रकट करती है और मौसी मेरी ओर देखकर, ज़रा सा हँसते हुए, आँखें तरेर कर कहती है—"देखैं भइय्ये, बहू अब कॉफी माँगत हैं।" और मैं कहता हूँ, "यह कोई टाइम है कॉफ़ी का। अब जाओ सो रहो, सुबह तुम्हें जल्दी उठना होगा, बच्चों के नाश्ते के लिए।" और मेरी बात सुनकर मेरी पत्नी कहती है, "अच्छा ठीक है मौसी तुम जाओ। अब नहीं पीते।"

मौसी कुछ नहीं कहती। चली जाती है और जब आध-एक घंटे बाद मैं सोने की तैयारी कर रहा होता हूँ तो देखता हूँ कि मौसी कॉफ़ी लिये हुए चली आ रही है।

मैं झल्लाता हूँ, "मौसी तुम बहू की आदत बिगाड़ती हो। तुमसे कितनी बार कहा है कि बहू को बार-बार कॉफ़ी न दिया करो। यह न मानें तो मुझे बताया करो।"

"अरे भइय्ये अब ये काम करत-करत थक जात हैं।" वह अपने उसी ढीले स्वर में कहती है और उसके स्वर में कुछ ऐसी ममता होती है कि मन अभिभूत हो जाता है।

मौसी चली जाती है तो पत्नी मौसी के उन गुणों का बखान करती है जो उसके दुर्गुणों के नीचे दबे रहते हैं, लेकिन जो साधारण नौकरों में एकदम अप्राप्य हैं और सोचती है कि मौसी न रहेगी तो हमारी क्या दुर्गति होगी। और मैं कहता हूँ –She is a treasur! और हम दोनों सोचते हैं कि मौसी बूढ़ी हो गयी है। उससे जल्दी काम हो ही कैसे सकता है। और हम निश्चय करते हैं कि नौकर हम चाहे और रखें, पर मौसी को निकालेंगे कभी नहीं।

मौसी मेरे छोटे बच्चे से बड़ा प्यार करती है। वह उसे तंग करता है, परेशान करता है, लेकिन यदि मज़ाक में भी मौसी को निकालने की बात हो तो वह (यद्यपि अब यथेष्ट बड़ा हो गया है तो भी) आँखें भर लाता है।

मैं इस बात को पसन्द नहीं करता कि मेरे बच्चे नौकरों से किसी तरह की बदतमीज़ी से पेश आयें। मैं स्वयं भी अस्वस्थता या परेशानी में ही कभी चिल्लाता या झल्लाता हूँ, पर बच्चे तो मेरी उस विवशता को नहीं देखते। मेरी नकल में मुझसे एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। एक बार मेरे छोटे लड़के ने मौसी को बुरी तरह डाँट दिया और मौसी ने हँसते हुए कहा, "देखे भइय्ये, गुड्डे भइय्या हमें डाँटत हैं।"

जाने मैं बड़ा व्यस्त था, थका था या अस्वस्थ था, मुझपर खून सवार हो गया। मैंने उसे आवाज़ दी और बढ़कर ज़ोर का एक चाँटा उसके मुँह पर जमा दिया। वह रोता हुआ मौसी की गोद में जा छिपा। मैंने लाख जतन किया, पर मौसी ने उसे नहीं छोड़ा। सहम के मारे लड़के का रंग फ़क़ हो गया और मौसी रोने लगी।

जाने कैसे उस क्रोध में भी मन आर्द्र हो आया। मैं चुपचाप अपने कमरे में चला गया और फिर शाम तक बाहर नहीं निकला।

हम दोनों पति-पत्नी प्रकाशन करते हैं और लोग हमें बड़ा सफल समझते हैं। बीसियों ताने मिलते हैं। और झूठ-सच बीसियों अफ़वाहें हमारी चतुराई के बारे में प्रचलित हो गयी हैं, लेकिन हिसाब-किताब से हम दोनों की जान जाती है। ताले, चाबियाँ हम इस जन्म में तो नहीं सम्हाल सकते, अगले जन्म की राम जाने। यह बात नहीं कि हम ताले नहीं लाते। कई बार दस-दस ताले लाते हैं और सब जगह लगाते हैं, फिर कैसे एक जगह का ताला दूसरी जगह चला जाता है और कैसे चाबियाँ गुम हो जाती हैं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। चाबियाँ टाँगने के लिए दफ़्तर और घर दोनों में दीवार पर बोर्ड लगवाये हैं, उन पर हुक और चाबियों पर कार्ड-बोर्ड की छोटी-छोटी तख्तियाँ लगाकर गोदाम, दफ़्तर, ट्रंक इत्यादि लिखवाये हैं, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला। घर में सब कुछ प्रायः खुला रहता है। हम बाहर जाते वक्त बिना किवाड़ बन्द किये निकल आते हैं और मौसी को आवाज़ देकर कहते हैं, "मौसी हम बाहर जा रहे हैं, घर खुला है।"

मौसी सब दरवाज़े, खिड़कियाँ बन्द करती है, वहाँ का ताला न मिले तो किचन का ताला लगाती है और हम निश्चिन्त घूमते हैं।

एक बार हमें किसी जगह बड़े ज़रूरी काम से जाना था और समय से पहुँचना था। बीवी ने कपड़े बदलकर दराज़ से कानों के आवेज़े और लॉकेट निकाला। पर मेरे जल्दी मचाने के कारण उन्हें वह पहनते ही बाहर निकल आयी और दराज़ बन्द करना भूल गयी। मौसी को आवाज़ दी कि घर सम्हालो और हम चले गये।

जब हम काफ़ी दूर निकल आये तो पत्नी ने कहा, "मैं दराज़ बन्द करना भूल गयी। चाबी, लगता है, उसी में लगी रह गयी।"

मैंने क्रोध से कहा, "अब चलो, जो होना है, अब तक हो चुका होगा।"

दराज़ में पत्नी के गहने ही न थे दफ़्तर का हज़ार-डेढ़-हज़ार रुपया भी था।

जब हम रात को वापस आये तो देखा मौसी सब दरवाज़े बन्द किये बाहर बराण्डे में बैठी है।

"मौसी दरवाज़े हमारे जाते ही बन्द कर दिये थे ?" पत्नी ने रिक्शा से उतरते ही पूछा।

"हाँ बहू।"

"कोई आया तो नहीं था ?"

"नहीं बहू।"

पत्नी ने चाबी ली और कमरा खोलकर अन्दर जाकर देखा—दराज़ वैसे ही आधा बन्द और आधा खुला था, चाबी उसमें लगी थी और सब चीज़ें ज्यों-की-त्यों थीं।

......एक बार हम बाहर से आये। शापिंग करने गये थे। पत्नी ने दस दुकानें देखीं। चीज़ें पसन्द कीं, पर ख़रीदी एक नहीं। मेरी पत्नी की आदत है कि एक ही बार में कोई चीज़ नहीं ख़रीदती। पसन्द करके रख आती है और दूसरे-तीसरे दिन ख़रीदती है। हम बेहद थक गये थे, आकर बाहर बरामदे में ही बैठ गये। शायद कुछ मित्र आ गये या न जाने क्या बात हुई, रात को देर से सोये। सुबह मौसी चाय लायी तो उसके हाथ में मेरी पत्नी का हैण्ड-बैग भी था, जो वह रात को बाहर ही भूल गयी थी। चार-पाँच सौ रुपये जो वह साथ ले गयी थी, उसमें ज्यों-के-त्यों थे।

"अब तू इहर-उहर बटुआ रख देत है। गुम होइ जाई तो आफत हम गरबिन कर आयी।" मौसी ने लगभग डाँटते हुए पत्नी से कहा।

"इतनी बार चीज़ें गुम हुई हैं अम्मा, कभी तुम्हारी आफ़त आयी है ?" पत्नी ने कुछ ऐसे स्वर में कहा, जिसमें प्रसन्नता के साथ हल्के से लाड की मात्रा भी निहित थी। वह जब मौसी से बहुत खुश होती है तो सदा उसे अम्मा कहकर पुकारती है।

और पत्नी की यह बात ठीक है। मौसी से और बीसों शिकायतें हों, यह शिकायत कभी नहीं हुई। तरकारी पड़ी-पड़ी सड़ जायगी, फल मुरझा जायँगे, दही खराब हो जायगा, दूध फट जायगा, लेकिन मौसी हाथ नहीं लगायेगी। जब हम चिल्लायेंगे कि जब कोई दूसरा खाने वाला नहीं था तो तुमने स्वयं

क्यों नहीं ले लिया तो उसका एक ही उत्तर है :

"तू हमका कहे न रहे, कइसन लेई लेते।"

मेरी पत्नी और मैं चूँकि कई बार सुबह आठ बजे से लेकर रात के आठ बजे तक दफ़्तर में काम करते रहते हैं, इसलिए घर देखने वाला कोई नहीं और कभी-कभी इच्छा होती है कोई ऐसी औरत घर में रहे जो कपड़े-लत्ते, गहने-पत्ते की देख-भाल कर सके और समय से सब्जी-तरकारी मँगाकर खाना खिलवा सके। बम्बई में रहते थे तो वहाँ ऐसी ट्रेण्ड आया मिल जाती थी, जो यह काम भली-भाँति कर लेती थी, लेकिन इलाहाबाद में वैसी सुविधा नहीं। पिछले दिनों मेरी पत्नी ने एक दूर-पार की सम्बन्धी महिला को घर में आश्रय दे दिया। धीरे-धीरे उन्होंने घर पर अधिकार जमा लिया। दुर्भाग्य से उन दिनों घर में कुछ अतिथि आये हुए थे। उन्होंने कुछ इस प्रकार समय से खाने का प्रबन्ध किया, स्वयं रिक्शा लेकर बाज़ार से सब्जी-तरकारी लाकर नयी से नयी तरकारियाँ और फल खिलाये कि मन बड़ा प्रसन्न हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने भण्डारे को ताला लगा दिया, डोली को ताला लगा दिया। बहुत दिन तक यह बात मुझसे छिपी रही। लेकिन एक दिन जब मैं बे-वक्त खाने पर बैठा और मैंने अचार माँगा और मौसी उनसे ताली माँगने गयी तो मुझे बड़ी उलझन हुई। "यह ताला किसलिए लगाया जाता है। कौन है जो यह खाने की चीजें उठा ले जायगा?" मैं बड़बड़ाया।

चार-छः महीने काम ठीक चला, फिर धीरे-धीरे दो एक-बार किचन में मौसी से उनकी तकरार हो गयी। फिर घर से चीज़ें ग़ायब होने लगीं। ऐसे ही इधर-उधर रखे पैसे-रुपये ग़ायब हुए, ईधर-उधर पड़े कपड़े ग़ायब हुए, कुछ बर्तन ग़ायब हो गये। दबी ज़बान से उन्होंने कहा कि आपने मौसी, उसकी बहन और घर में सफाई करने वाली जमादारिन को बड़ी छूट दे रखी है।

मैं उनका इशारा समझ गया और मैंने कहा, "माता जी आठ बरस से ये लोग काम करती हैं, यहाँ कभी कोई चीज़ नहीं गयी।"

एक दिन मैं शाम को दफ़्तर से डाइनिंग-रूम में आया तो मौसी शिकायत-भरे स्वर में बड़बड़ाने लगीः

"बूढ़ा-बूढ़ा खात हैं और बच्चन लोग मुँह ताकत हैं।"

पूछने पर पता चला कि लड़का स्कूल से आया था, डोली को चाबी लगी थी, माता जी कहीं गयी हुई थीं। बच्चे को नाश्ता नहीं मिला और मौसी ने बताया कि वे महिला खुद ख़ूब खाती हैं और बच्चों को नपा-तुला देती हैं। लड़कों ने भी शिकायत की कि जब देखो डोली में ताला लगा रहता है।

उसी रात मैंने उनसे चाबी ले ली और कहा कि कहीं ताला-वाला लगाने की ज़रूरत नहीं। कुछ दिन बाद वे चली गयीं। जाते-जाते कुछ और चीज़ें उठा ले गयीं। लेकिन हमने सुख की साँस ली।

एक वर्ष उन्हें गये हो गया है। घर खुला रहता है। कपड़े-लत्ते, पैसे-रुपये उसी तरह खुले रहते हैं, लेकिन किसी चीज़ के गुम होने की शिकायत नहीं सुनायी दी। मौसी पूर्ववत् घर सम्हाले हुए है।

मेरी पहली पत्नी से एक लड़का है जो अब बड़ा हो गया है, और कॉलेज में पढ़ता है। वह मेरे साथ कम ही रहा है। पहले अपनी दादी के पास रहा। फिर चचा-तायों के पास। फिर आया तो कई बार घर से भाग-भाग गया।

पिछली बार वह बम्बई भाग गया और दो साल उसने वहाँ बड़े कष्ट सहे, काफ़ी अनुभव प्राप्त किये और वापस आया तो मैंने उसे यथेष्ट सुलझा हुआ पाया। स्वभाव में वह अपनी माँ पर है। बड़ा संवेदनशील, उदार-हृदय और मितभाषी। सभी युवकों की तरह वह अपने माता-पिता को कई बातों में अपनी अपेक्षा कम समझदार पाता है। उसे यह समझ में नहीं आता कि हम क्यों इतना चिल्लाते हैं। क्यों नहीं व्यवस्था की जाती कि मौसी को डाइनिंग-रूम में बैठे-बैठे जब-तब आवाज़ें देने की ज़रूरत न पड़े।

और पिछले वर्ष की बात है एक दिन मैंने देखा कि वह किचन में बिजली की घंटी फ़िट करवा रहा है। डाइनिंग-रूम किचन से दूर है। काफ़ी लम्बी तार लगानी पड़ी। बटन डाइनिंग-रूम में फ़िट करवा के उसने बड़े गर्व से मेरी ओर ऐसे देखा जैसे कह रहा हो कि होंगे आप बड़े लेखक, लेकिन आपको समझ कुछ भी नहीं। अब देखिए कोई ज़रूरत है मौसी को चिल्लाकर बुलाने

की। चुप से घंटी बजा दी और वह अपने-आप घंटी की आवाज़ के साथ खिंची चली आयेगी। आप लोग हैं कि चिल्ला-चिल्लाकर कम्पाउण्ड सिर पर उठा लेते हैं।

लेकिन मौसी कभी घंटी की आवाज़ के साथ नहीं आयी।

खाना खाते-खाते किसी चीज़ की ज़रूरत पड़ती है या मौसी रोटी लाने में देर करती है तो मेरा लड़का घंटी का बटन दबाता है। मौसी न उत्तर देती है न आती है।

लड़का कुछ देर प्रतीक्षा करता है। और अबके दो बार बटन दबाता है।

मौसी फिर भी कोई उत्तर नहीं देती।

कुछ झल्लाहट के साथ वह फिर एक बड़ी लम्बी घंटी बजाता है।

मौसी की तरफ़ से फिर भी किसी तरह की सुन-गुन का आभास नहीं मिलता।

तब अपना स्वाभाविक गाम्भीर्य तजकर, वह ऊपर से मौन पर अन्तर में झल्लाया हुआ किचन में पहुँचता है।

मौसी रोटी बेल रही होती है या अँगीठी को पंखा कर रही होती है या आटा सान रही होती है।

"मौसी तुम्हें घंटी नहीं सुनायी दी?"

"सुनत तो रहे।"

"तो फिर जवाब क्यों नहीं दिया?"

"देखत तो हौ, हम का खाली रहे।"

"तुम्हारे हाथ आटा सान रहे हैं या ज़बान भी आटा सान रही है?"

मौसी इसका उत्तर नहीं देती। मुँह उठाकर पूछती है, "का कहत हौ?"

'कहते हैं तुम्हारा सिर,' लड़का कहना चाहता है, लेकिन कुछ नहीं कहता। भुनभुनाता हुआ आकर बैठ जाता है और मुँह फुला लेता है।

मैं मुस्कराता हूँ तो उसका मुँह और भी फूल जाता है।

और अब साल-भर बाद स्थिति यह है कि घंटी और मौसी अपनी-अपनी जगह कायम हैं और हमारे घर का काम पहले ही की तरह चलता है।



बच्चे

वर्षा उस समय ज़ोर से होने लगी थी और नन्हा तुलसीराव अपनी माँ की साड़ी का पल्लू पकड़े उसके साथ जाने का हठ कर रहा था, जबकि राशन अफ़सर श्री बालकृष्ण विट्ठलराव कोलार्कर अपने बँगले में दाखिल हुए।

"नको, नको, तिकड़े बसा, तिकड़े!"[1] श्रीमती कोलार्कर ने अपना पल्लू छुड़ाते हुए कहा।

परन्तु बच्चा निरन्तर "हम ममी साथ जायँगा," "हम किचन में जायँगा!" चिल्लाता रहा।

श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे का ध्यान बटाने के विचार से कहा, "देखो, तुम्हारे पापा जी आये हैं, गुड ईवनिंग बुलाओ।"

बच्चे ने ममी का पल्लू पकड़े-पकड़े वहीं से गुड ईवनिंग बुलायी।

किन्तु पापा जी ने इस अभिवादन का कोई उत्तर न दिया।

"पापा जी नहीं बोलता, पापा जी एकदम डर्टी है," बच्चे ने आया से सीखी हुई हिन्दुस्तानी में कहा।

"च्च...च्च...ऐसा भी बोलता है, इतना गुड ब्वाय होकर, क्षमा माँगो पापा जी से!"

बच्चे ने वहीं खड़े-खड़े हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। पर उसके पापा जी ने उसकी क्षमा-याचना का कोई उत्तर नहीं दिया, हाथ का सामान मेज़ पर रख, बरसाती उतारी और मौन रूप से उसे खूँटी पर टाँगने लगे।

माँ ने समझा, बच्चे का ध्यान बट गया है। बोली, "वेरी गुड ब्वाय! लो

१—नहीं, नहीं, वहाँ बैठो, वहाँ!

बैठो, मैं अभी आती हूँ चाय लेकर !"

लेकिन बच्चे ने फिर ममी का पल्लू पकड़ लिया।

अपने पति की ओर देखकर श्रीमती कोलार्कर ने कहा, "तनिक इसे इधर रखो तो मैं चाय ले आऊँ। बाहर पानी गिरने लगा है।"

श्री कोलार्कर ने उत्तर में बरसाती टाँगकर खूँटी से छाता उतारा, उसे चुपचाप पत्नी के हाथ में दिया और जाकर निर्जीव-से बिस्तर पर लेट गये।

श्रीमती कोलार्कर का समस्त क्रोध अपने बच्चे पर निकला, "एकदम गन्दा बाबा है, कहना नहीं मानता, हम दूसरा बाबा लायँगा !" और छाता खोल, बच्चे को कूल्हे से लगाये, वे बकती-झकती रसोईघर की ओर चली गयीं।

जब से श्री कोलार्कर पंचगनी आये थे, लगभग रोज़ ऐसा होता था। रसोईघर बँगले से तनिक दूरी पर था और नन्हा तुलसीराव कभी अपनी ममी की साड़ी का पल्लू और कभी आया की स्कर्ट का दामन थामे रसोईघर से बँगले और बँगले से रसोईघर के बीस चक्कर लगाता, कई बार 'गुड' और कई बार 'डर्टी' बनता।

बम्बई में श्री कोलार्कर का फ़्लैट बालकेश्वर रोड पर शीतल बाग़ के बराबर था। बिल्डिंग के दूसरे म्हाले[1] पर वे रहते थे और नन्हा तुलसीराव अपनी ममी अथवा आया को तंग करने के बदले कभी ऊपर की मंज़िल और कभी नीचे की मंज़िल में, इस या उस 'आंटी' ही को परेशान किया करता और उसकी माँ तथा आया उसे 'गुड ब्वाय', 'वेरी-वेरी गुड ब्वाय' समझा करतीं। वह न केवल अपनी माँ का प्यारा था, बल्कि आया भी उसे खूब चाहती थी। उसकी सिखायी हुई मराठी मिली हिन्दुस्तानी में वह ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करता कि दोनों उसे चूम-चूम लेतीं। उसके पापा जब प्रातः उठते (रात को श्री कोलार्कर देर से घर आते, इसलिए पिता-पुत्र में कम ही भेंट होती) तो वह उन्हें अपने कमरे ही से 'गुड मार्निंग' बुलाता। फिर अपनी ममी की गोद में चढ़े-चढ़े

१—मंज़िल।

जाकर उन्हें किस्सी (kissy) देता और गुड ब्वाय की उपाधि लेकर ममी के गले में बाहें डाले वापस आ जाता। अपने फ्लैट में तो वह मुँह-हाथ धोने, कपड़े बदलने, नाश्ता करने, खाना खाने या सोने के समय ही रहता, उसका शेष समय तो पड़ोसिन आंटियों और उनके बच्चों से खेलने या आया के साथ चौपाटी की सैर करने में व्यतीत होता।

किन्तु पंचगनी में न पड़ोसिन आंटियाँ थीं, न उनके बच्चे थे, न चौपाटी की सैर थी और न आया ही उसका मन बहलाती थी। श्री कोलार्कर ने पंचगनी में जो बँगला किराये पर लिया था, वह निपट एकान्त स्थान में बना हुआ था। दूर-दूर तक बच्चा तो क्या, कोई बूढ़ा भी दिखायी न देता था। इसके अतिरिक्त आया अब उसका काम देखने के बदले रसोई का काम देखने लगी थी और बच्चा नितान्त अकेला पड़ गया था।

सहसा जब डाक्टरों ने श्री कोलार्कर के दायें फेफड़े में कुछ इनफ़िलट्रेशन अर्थात् यक्ष्मा के कीटाणुओं के हल्के-से आक्रमण की आशंका प्रकट की और श्री कोलार्कर ने अपने और अपने ससुर के समस्त बल-प्रभाव का प्रयोग करके, पंचगनी में, जो बम्बई प्रेज़िडेन्सी में सब से शुष्क, स्वास्थ्यकर स्थान समझा जाता है, अपनी बदली करा ली तो उनके रसोइये ने साथ चलने से इनकार कर दिया। तब अचानक उनकी आया ने प्रस्ताव किया कि यदि उसकी 'पगार'[1] बढ़ा दी जाय और मेम साब उसकी कुछ सहायता करें तो वह किचन का काम सम्हाल लेगी। श्री कोलार्कर ने तुरन्त उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। नन्हा अब ढाई वर्ष का होने को आया था, उसका काम घट गया था और पति-पत्नी आया को छुट्टी देने की सोच रहे थे, किन्तु जब आया किचन का काम सम्हालने को तैयार हुई और श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे को नहलाना-धुलाना अपने जिम्मे ले लिया तो श्री कोलार्कर ने उसका वेतन पाँच रुपये बढ़ा दिया और उसे अपने साथ पंचगनी ले आये।

---

१ — वेतन।

इस प्रबन्ध से सभी प्रसन्न थे। किचन की दासता से बच्चे की दासता श्रीमती कोलार्कर को अपेक्षाकृत पसन्द थी। श्री कोलार्कर को अच्छे-से-अच्छा खाना मिल जाता था—आशा के विपरीत आया रसोइये से भी अच्छी चीज़ें पका लेती थी। रही आया तो इस महँगाई के ज़माने में उसे मन-चाहा खाना मिल जाता, बच्चे के कपड़ों की धुलाई के बदले स्वादिष्ट सालन की सुगन्धि मिलती और आया से बढ़कर 'मिस्तरी' (बावर्चिन) होने पर वह फूली न समाती।

किन्तु नन्हा तुलसीराव इस प्रबन्ध से सख़्त परेशान था। जब वह खेलना चाहता तो ममी और आया दोनों ही उसे किसी-न-किसी काम में व्यस्त मिलतीं। आया चाहती कि अब, जब वह आया से मिस्तरी हो गयी है, उसे बच्चे की 'रीं...रीं...' से मुक्त किया जाय। जब बच्चा अपने स्वभावानुसार उसकी स्कर्ट का छोर पकड़ता तो वह मिनमिनाती। श्रीमती कोलार्कर चाहतीं कि वे नहला-धुलाकर उसे कपड़े पहना दें तो वह अकेला चटाई पर बैठा खिलौनों से खेलता रहे और वे कोई दूसरा काम करें। लेकिन बच्चा खिलौने छोड़कर उनकी साड़ी का आँचल पकड़े उनके पीछे-पीछे घूमता, परेशान करता, पिटता किन्तु पिटने और रोने पर, जैसा कि उसे सिखाया गया था, 'अब ऐसा नहीं करेंगा !' कहता हुआ क्षमा माँग लेता और 'सन्धि' कर लेता।

वह अत्यन्त सुन्दर, गुलगोथना, गुबला-गुबला बच्चा था। जब वह अपराध करने और पिटने पर क्षमा माँगता और गले में बाहें डालकर सन्धि कर लेता तो श्रीमती कोलार्कर सब-कुछ भूलकर, उसे छाती से लगा लेतीं और 'गुड ब्वाय' की उपाधि प्रदान करती हुई चूम-चूमकर उसके गाल लाल कर देतीं।

किन्तु इसके बावजूद वे उसे दिन में कई बार पीटतीं और कई बार क्षमा करतीं। कई बार 'गुड ब्वाय' और कई बार 'डर्टी ब्वाय' की उपाधि से विभूषित करतीं।

बाहर वर्षा पूर्ववत् हो रही थी, किन्तु हवा तेज़ चलने लगी थी। सिलवर-ओक के गगन-चुम्बी, किन्तु देवदार की अपेक्षा पतले तनों वाले, वृक्षों के पत्ते

उसके वेग से दोहरे हुए जा रहे थे और उनके पृष्ठ-भाग का हल्का हरा रंग शेष वृक्षों के मूँगी के-से गहरे सब्ज़ रंग की पृष्ठभूमि में विचित्र-सा लग रहा था। बादलों के झुण्ड-के-झुण्ड, अनवरत विजय, आक्रमण और मदिरा के तिहरे मद से उन्मत्त सैनिकों की तरह उड़े जा रहे थे। वर्षा के थपेड़े खिड़कियों के शीशों को तोड़े डालते थे और टीन की छत पर फैले हुए बाँस के वृक्षों की शाखाएँ अपने बड़े-बड़े काँटे निरन्तर छत में गाड़ती हुई चिंघाड़ रही थीं। श्री कोलार्कर खिड़की के पास चारपाई पर निष्प्राण-से पड़े थे। यद्यपि छः महीने में ही उनका वज़न बाईस पाउण्ड अर्थात् पूरे ग्यारह सेर बढ़ गया था और उनके कल्ले, जो बम्बई के अत्यन्त व्यस्त और मर्यादा-रहित जीवन के कारण भीतर धँस गये थे और दिन-प्रतिदिन काले पड़ते जा रहे थे, अब भर आये थे और उस भयानक रोग की छाया भी, जो बम्बई में अचानक उन्हें लीलता हुआ दिखायी देता था, अब दूर होती जा रही थी, किन्तु इस पर भी लगता था, जैसे उनकी कोई बहुत प्यारी चीज़ बम्बई ही में रह गयी है।

दफ़्तर का अधिकांश काम उन्होंने अपने एक सहकारी पर छोड़ रखा था। राजयक्ष्मा पर लिखी हुई एक पुस्तक में उन्होंने पढ़ा था कि रोग से मुक्त हो जाने पर भी रोगी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि सम्भव हो तो वह चलने की अपेक्षा खड़े रहकर और खड़े रहने की अपेक्षा बैठकर काम करे और वे दफ़्तर में ज़्यादातर आरामकुर्सी पर लेटे काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करते थे। लंच के समय भी वहीं खाना खाकर ऊँघ लेते। साहित्य और राजनीति में उन्हें कभी दिलचस्पी न थी और अब तो देश का वातावरण दूषित होने के कारण ख़बरें बड़ी परेशान करने वाली होतीं और डाक्टरों के परामर्शानुसार हर तरह की परेशानी को अपने से दूर रखने के हेतु वे समाचार-पत्र को उठाकर भी न देखते थे।

दफ़्तर का समय किसी-न-किसी तरह काटकर जब वे घर आते तो उन्हें ऐसा लगता जैसे समय एक बड़ा भारी पत्थर बनकर उनकी छाती पर आ बैठा है। श्रान्त-क्लान्त, ऊबे और चिढ़े-से वे खिड़की के पास बिछे हुए पलँग पर निर्जीव-से लेट जाते। उनकी पत्नी घर अथवा किचन के काम में व्यस्त होतीं।

उनका बच्चा 'हैलो पापा,' 'गुड ईवनिंग पापा' से उनका स्वागत करता। श्री कोलार्कर थके हुए स्वर में कभी उसके 'हैलो' और 'गुड ईवनिंग' का उत्तर देते और कभी मौन रहते, पर कभी उसे इतना प्रोत्साहन न देते कि वह उनकी गोद में आ चढ़े या अपनी तोतली बातों से उनका मन बहलाये।

श्री कोलार्कर को कभी बच्चों से प्रेम न था और जिन वस्तुओं से उन्हें प्रेम था, उनका सामीप्य अब न केवल उन्हें प्राप्त न था, वरन् उनकी सख़्त मनाही भी थी। वहीं पलँग पर निष्प्राण-से लेटे उन्हें प्रायः रेडियो-क्लब की वे दिलचस्प, लुभावनी शामें याद हो आतीं, जब हरी-हरी घास पर लगी किसी कुर्सी पर बैठे और समुद्र-तट का दर्शन करते हुए ऐसा लगता, मानो जहाज़ के डेक पर बैठे हों। क्लब के लॉन की ऊँचाई से, बायीं ओर समुद्र की आकुल लहरें; उनमें लंगर डाले, संन्यासियों-से अटल जहाज़; दायीं ओर इण्डिया गेट और ताज की बिल्डिंग; वहाँ तक जाती हुई बाँध के साथ बनी हुई सड़क—सब कुछ बड़ा भला लगता। आकुल ऊर्मियाँ बाँध के पत्थरों के साथ टकरातीं और झाग बिखेरती हुई लौट जातीं और कभी-कभी उनसे कहीं अधिक व्यग्र कोई स्टीमर उन संन्यासियों की भाँति समाधिस्थ जहाज़ों में किसी एक तक जाता और अपने पीछे सफ़ेद झाग की एक लहर-सी छोड़ जाता। श्री कोलार्कर समुद्र की लहरों, जहाज़ों और दूर पृष्ठभूमि में एलीफ़ेण्टा की पहाड़ी को संध्या के धुँधलकों में उन संन्यासियों ही की भाँति अटल, अविचल खड़े देखते और तुष्टि की एक अपूर्व अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाते। प्याले की तरल आग रस ले-लेकर गले से उतारते और सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश लगाते। धीरे-धीरे उनके दूसरे मित्र भी आ जाते और फिर ब्रिज का दौर चलने लगता और गयी रात तक चला करता। जब वे घर आते तो उनका बच्चा सो चुका होता, पत्नी कोई मराठी उपन्यास हाथों में लिये ऊँघती हुई उनकी प्रतीक्षा कर रही होती और उनको सुलाते ही सो जाती।

ज्योंही डाक्टर ने इस रोग का निदान किया था, उन सब की उन्हें सख़्त मनाही हो गयी थी। यद्यपि ये चीज़ें श्री कोलार्कर को अत्यन्त प्रिय थीं, किन्तु

जीवन कदाचित् इनसे भी प्रिय था, इसीलिए इन सब को 'नमस्कार' कर, उन्होंने पंचगनी में अपनी बदली करा ली थी, कुछ महीने छुट्टी लेकर घर में पूरा आराम किया था और अब डेढ़-दो महीने से जो दफ़्तर जाने लगे थे तो भी काफ़ी आराम करते थे।

शराब और सिगरेट तो सदा के लिए छूट गये थे, किन्तु यदि वे चाहते तो अब ब्रिज की एक-आध बाज़ी खेल सकते थे। उनका स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा सुधर गया था, वज़न बढ़ गया था और सेंटिमेंएट नार्मल हो गया था अर्थात् उनके रक्त में रोग का प्रभाव ख़त्म हो गया था, लेकिन पंचगनी इतनी छोटी जगह थी और उनका पद ऐसा था कि वे मित्र बनाते हुए डरते थे। यदि कोई पुराना मित्र भी सामने पड़ जाता तो वे सदा कन्नी कतरा जाते। बम्बई में वे बालकेश्वर रोड पर रहते थे, शान्ताक्रूज़ में राशनिंग अफ़सर थे और कोलाबा में उनका क्लब था। उनके मित्रों में एक भी ऐसा न था, जो उनकी मैत्री का अनुचित लाभ उठा सकता। पंचगनी में उन्हें भय था कि उन्होंने कोई मित्र बनाया कि उसने चार व्यक्तियों के राशन कार्ड नियम के विरुद्ध रखे या कोई दूसरी माँग की। इसीलिए वे सब से अलग-थलग बने रहते थे।

बाज़ार छोटा-सा था और जो थोड़ी-बहुत रौनक़ उसमें थी, वह भी वर्षा के कारण समाप्त हो गयी थी। यों भी वर्षा में किसी प्रकार की सैर असम्भव थी। वर्षा तो बम्बई में भी होती, पर इसके बावजूद चिर-चंचल बम्बई का जीवन सदा क्रियाशील रहता। पंचगनी में तो लगता, जैसे जीवन एकदम थम गया है, जैसे दिनों, सप्ताहों, महीनों अनवरत गिरने वाली इस वर्षा ने उसे सर्वथा गति-हीन बना दिया है। श्री कोलाकर चेष्टा-हीन से पलंग पर लेटे रहते। पल घड़ियाँ बनकर बहे जाते और वे चुपचाप लेटे बाहर वाटिका में एक ही पंक्ति में लगे हुए सिलवर-ओक के तनों को तकते रहते, जिनके घने पत्ते कहीं छत से भी बहुत ऊपर थे। उन रुण्ड-मुण्ड तनों को तकते हुए रेडियो-क्लब की दिलचस्प, आमोद-भरी संध्याएँ उन्हें स्मरण हो आतीं और इन उदास शामों की घुटन और भी घनी होकर उन्हें गला घोंटती हुई-सी प्रतीत होती।

आया एक हाथ पर चाय की ट्रे और दूसरे में छाता थामे हुए जल्दी-जल्दी आयी। बच्चा साथ आने का हठ करता था, इसलिए श्रीमती कोलार्कर ने चाय आया ही के हाथ भेज दी थी। आया बूढ़ी थी और कुरूप, और श्री कोलार्कर को उसका चाय लाना एक आँख न भाता था। वे चाहते थे कि उनकी पत्नी कम-से-कम चाय के समय तो उनके पास बैठे। और कुछ नहीं तो वे उसके साथ ही कुछ क्षण बातें करें। प्रारम्भ में श्रीमती कोलार्कर ने प्रयास भी किया था, किन्तु वे जब भी आयीं, नन्हा तुलसीराव सदा उनके साथ आया। वह इतना चंचल और उद्दण्ड बालक था कि क्षण-भर के लिए निश्चल न बैठता। वह उन्हें बात तक न करने देता। चाहता कि उसके पापा और ममी परस्पर बातें करने के बदले उससे बातें करें और उसकी बातें सुनें। श्री कोलार्कर के लिए चाय पीना दूभर हो जाता। कुछ क्षण संयत रहने की चेष्टा करने के बाद सहसा वे चिल्ला उठते, "इस पाजी को मेरे सामने से ले जाओ!" और अब, जब उनकी पत्नी अपनी इच्छा के बावजूद स्वयं न आ पातीं, श्री कोलार्कर मन-ही-मन खीझते, किन्तु बच्चे की निरर्थक बातें सुनने की अपेक्षा अकेले ही चाय पीना श्रेयस्कर समझते।

यह अजीब बात थी कि श्री कोलार्कर को अपनी पत्नी का यह महत्त्व बम्बई में कभी अनुभव नहीं हुआ। वे दफ़्तर से लोकल ट्रेन में सीधे 'चर्च गेट' और वहाँ से क्लब पहुँचते और जब लौटते तो खाना खाकर (और जब कभी वे खाना क्लब ही में खा लेते तो बिना खाये) सोने के अतिरिक्त उनके लिए और कुछ न रह जाता। कभी छुट्टी के दिन फ़ोर्ट या क्राफ़ोर्ड मारकेट में शॉपिंग करते समय या कभी किसी संध्या अपने किसी मित्र की पार्टी में वे अवश्य उसे साथ ले जाते, किन्तु उस समय भी उनकी पत्नी का अपना महत्त्व कुछ न होता—उसकी बहुमूल्य साड़ी, नये-से-नये फ़ैशन के सेण्डल, नरोत्तम-दास भाऊ की दुकान से ख़रीदी हुई उसकी दीप्तिमयी अँगूठियाँ तथा कर्ण-फूल, उसके मुख का सौम्य-सौन्दर्य और उसकी ऊँची प्रज्ञा का पता देने वाली उसकी वह सूक्ष्म मुस्कान—सब श्री बालकृष्ण विट्ठलराव कोलार्कर के महत्त्व को बढ़ाते। जहाँ तक साहचर्य का सम्बन्ध है, उन्हें तो यह भी ज्ञान न था कि

उनकी यह संगिनी अपना समय कैसे बिताती है।

आया ने चाय का प्याला बनाकर साहब के समीप एक तिपाई पर रख दिया और एक प्लेट में उबला हुआ अण्डा और नमक ले आयी।

श्री कोलार्कर पूर्ववत् लेटे सिलवर-ओक के तनों को देखते रहे। उन्होंने एक बार भी आया की ओर नहीं देखा। वे आज आते-आते बाज़ार से ताश का एक पैकेट और ड्राफ़्ट का एक बोर्ड ले आये थे। जिस डाक्टर से वे इंजेक्शन आदि लेते थे, उसके ड्राइंग-रूम में उन्होंने संध्या समय लोगों को प्रायः ड्राफ़्ट या ताश खेलते देखा था। उनके कुछ इन्स्पेक्टर भी सदैव खेलने वालों में होते। श्री कोलार्कर का मन बहुत चाहता कि कुछ क्षण उनके साथ जा बैठें और ड्राफ़्ट के एक-दो बोर्ड या ताश की एक-दो बाज़ियाँ खेलें, किन्तु क्लर्कों और इन्स्पेक्टरों से मिलना-जुलना वे उतना ही बुरा समझते थे, जितना जान-पहचान वालों से। हर बार वे अपनी इस अभिलाषा को मन ही में दबा लेते थे। आज जब वे दफ़्तर से आते-आते डाक्टर से इंजेक्शन लेने गये और सदा की भाँति वहाँ ड्राफ़्ट की महफ़िल जमी हुई देखी तो जाने क्यों वापसी पर आते-आते वे 'पंचगनी स्टोर्ज़' से ड्राफ़्ट का बोर्ड और ताश का एक पैकेट लेते आये। किन्तु उनकी पत्नी को तो उनसे दो बात तक करने का अवकाश न था और वे दोनों चीज़ें उसी प्रकार काग़ज़ में बँधी मेज़ पर पड़ी थीं और श्री कोलार्कर निर्जीव-से पलंग पर लेटे हुए सिलवर-ओक के बेजान तनों को तक रहे थे।

"साहब, चाय ठण्डा हो जायँगा।" आया कुछ क्षण साहब के उठने की प्रतीक्षा करके बोली।

"तुम जाओ, हम पीता है!" श्री कोलार्कर ने उसी प्रकार लेटे-लेटे कहा, "और मेम साहब को टाइम हो तो इधर भेजना।"

किन्तु मेम साहब को टाइम शीघ्र नहीं मिला। संध्या को श्रीमती कोलार्कर खाना रसोईघर में पकाकर बँगले में ले आती थीं, ताकि वर्षा और अँधेरे में रसोईघर न जाना पड़े। पराँठे पकाते और दूसरा सामान लाते-लेजाते उन्हें देर लग गयी। जब बच्चे को आया के सुपुर्द करके और यह आदेश देकर

कि उसे शीघ्र खाना खिला दिया जाय, वे आख़िर आयीं तो श्री कोलार्कर का मन बात तक करने को न हो रहा था। वे रेडियो-क्लब के जीवन की सुखद-मधुर कल्पनाओं में खोये हुए थे और नहीं चाहते थे कि कोई आकर उन्हें छिन्न-भिन्न कर दे। जब श्रीमती कोलार्कर उनके पास पलँग की पट्टी पर आ बैठीं और अपनी व्यस्तता और बच्चे के हठ का ज़िक्र करते हुए देर के लिए उन्होंने क्षमा माँगी और बुलाने का उद्देश्य पूछा तो श्री कोलार्कर ने जैसे किसी दूसरी दुनिया से बोलते हुए केवल इतना कहा :

"मैं आज आते-आते बाज़ार से ताश और ड्राफ़्ट लाया था। सोचा था, यदि कुछ समय हो तो स्वीप की एक-दो बाज़ियाँ खेलें, किन्तु अब तो रात हो गयी।"

"तो फिर क्या हुआ", श्रीमती कोलार्कर ने उनका दिल बढ़ाते हुए कहा, "बस, ज़रा जल्दी खाना खा लीजिए, फिर खेलते हैं।" और यह कहकर वे अपने पति के खाने का प्रबन्ध करने के लिए उठकर चली गयीं।

रात को खाने आदि से निबटकर श्रीमती कोलार्कर अपने पति का बिस्तर झाड़कर बिछाती थीं और फिर बच्चे को सुलाती थीं। आया बूढ़ी थी और फिर कमरों की सफ़ाई करते, बर्तन मलते, बाज़ार से सामान लाते, रसोईघर से बँगले और बँगले से रसोईघर के बीसियों चक्कर लगाते हुए थक जातीं। इसलिए ज्योंही खाना आदि समाप्त होता, वह बड़े कमरे में चटाई बिछाकर उस पर अपना बिस्तर लगा लेती और उस समय, 'जब मेम साब' नन्हें को 'चिमनी कावड़े'[1] या रग्घू तोते की कहानी सुनाकर, या अँग्रेज़ी बोलना सिखाकर सुलाने की चेष्टा करती, आया बड़े मज़े से सो जाती।

जब खाना आदि समाप्त हो गया और आया रोज़ की भाँति बिस्तर बिछाकर लेट गयी तो श्रीमती कोलर्कर ने बच्चे को स्वयं सुलाने के बदले उसे आया के सुपुर्द किया, दबे स्वर में साहब की इच्छा का ज़िक्र किया और कहा कि इसे

१—चिड़िया-कौवे !

ज़रा सुलाओ और स्वयं पति की इच्छा का पालन करते हुए उनके सम्मुख जा बैठीं।

श्री कोलार्कर को स्वीप खेले वर्षों बीत गये थे। विवाह के प्रथम दिनों में, अपनी नव-परिणीता संगिनी की प्रसन्नता के लिए उन्होंने महीना-भर उसके साथ स्वीप खेली थी। किन्तु उन दिनों उनके लिए स्वीप खेलना अपनी पत्नी से बातें करने का बहाना मात्र था और जब विवाह के दो महीने बाद ही उनकी पत्नी बच्चे से होकर अपने मैके चली गयी और श्री कोलार्कर ने क्लब की शरण ली तो आज ढाई-तीन वर्ष से ब्रिज ही उनकी एकमात्र संगिनी थी। ब्रिज के सामने स्वीप उन्हें ऐसी ही लगती, जैसे आधुनिकतम वस्त्रों में सजी-सँवरी किसी तन्वी के सामने प्रागैतिहासिक काल की कोई सुन्दरी। फिर भी जब उनकी पत्नी उनके सम्मुख आ बैठी तो अपने एकान्त की घुटन दूर करने के लिए श्री कोलार्कर ने कुछ उत्साह से पत्ते बाँटे।

किन्तु तभी नन्हा तुलसीराव, जो आया से गोआ के चूहे की 'हूँ' 'हूँ' वाली कहानी सुन रहा था और उसके पापा और ममी समझ रहे थे कि सोने ही वाला है, "ममी, हम भी खेलेंगा, ताश-पत्ते खेलेंगा" कहता और भागता हुआ आया और श्रीमती कोलार्कर की गोद में बैठ गया।

ममी ने उसे चूमकर बड़े प्यार से कहा, "जाओ बेटा, आया के पास सोओ!"

"सोता नहीं," बेटा बोला, "खेलता है!"

"आया तुम्हें कहानी सुनायेगी, बड़ी चाँगली[1]।"

"कहानी नहीं सुनता, खेलता है, ममी साथ खेलता है।"

श्री कोलार्कर ने अपने बच्चे की ओर देखा, उनकी त्योरी चढ़ गयी। उन्हें पहली बार अनुभव हुआ कि उनका यह बच्चा, जो प्रातः ही अपने कमरे से उन्हें 'गुड मार्निंग' बुलाता था और फिर माँ के कन्धे से लगे-लगे उन्हें चुम्बन दे जाता था और जिसे वे बड़ा शिष्ट समझते थे, एकदम बदतमीज़ है।

१—बड़ी अच्छी।

उस समय उनकी पत्नी बच्चे को समझा रही थी, "तंग नहीं करते बेटा, पापा जी के पत्ते नहीं लेते, अपने खिलौनों से खेलते हैं।" और बेटा चिल्ला रहा था—"खिलौने गन्दे हैं, खिलौनों से खेलता नहीं, पत्ते खेलता है।" और मचल रहा था और हाथ-पाँव पटक रहा था।

'अत्यन्त उद्दण्ड लड़का है, माँ ने तनिक भी शिष्टता नहीं सिखायी'—श्री कोलार्कर ने मन-ही-मन कहा और उनके जी में आयी कि तड़ से दो थप्पड़ उस बदतमीज़ के गाल पर जड़ दें, किन्तु तभी उन्हें कुछ प्रेरणा-सी हुई और उन्होंने अपने और अपनी पत्नी के सामने पड़े हुए पत्तों को उठाकर बच्चे के हाथ में दे दिया और कहा, "जा, उधर आया के साथ खेल।"

"आया साथ नहीं खेलता, पापा जी साथ खेलता है।"

श्री कोलार्कर की त्योरी फिर चढ़ गयी, किन्तु उनकी पत्नी बच्चे को उठाकर आया के पास छोड़ आयी और उससे धीरे-से कहा, "आया, इसे ज़रा खेलाओ।" पुत्र को अतीव स्नेह से चूमा और बोली, "बड़ा अच्छा बेटा है, ममी को तंग नहीं करता। आया के साथ खेलता है।" और जब बेटे ने वही वाक्य दोहराया और बड़े आदेशपूर्ण स्वर में आया से कहा, "हमारे के साथ पत्ते खेलो!" तो उसकी ममी उसके पापा के पास लौट आयी।

श्री कोलार्कर का उत्साह इतने ही में ठण्डा पड़ चुका था, किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी प्रेरणा के अनुसार, "चलो एक ड्राफ़्ट ही की गेम खेलते हैं!" कहते हुए ड्राफ़्ट की बिसात बिछायी और उस पर मोहरे लगाने लगे।

किन्तु उनकी पत्नी ड्राफ़्ट के खेल से अनभिज्ञ थी। धीमे से उसने कहा, "मुझे तो ड्राफ़्ट आता नहीं!"

कोलार्कर झुँझला उठे, "तुमने बी० ए० कर लिया और तुम्हें ड्राफ़्ट खेलना नहीं आता?"

बड़े आदर के साथ पत्नी ने विनय की कि बी० ए० में उन्हें ड्राफ़्ट नहीं सिखाया गया।

श्री कोलार्कर को बड़ा क्रोध आया, किन्तु खेलने की मानो उन्हें ज़िद हो

गयी थी। बोले, "आसान खेल है। ये मोहरे शतरंज के फ़ील ही की तरह एक घर टेढ़ा चलते हैं, किन्तु जब अन्तिम घरों में पहुँच जाते हैं तो फिर आगे-पीछे दोनों ओर जितने घर चाहें एक साथ फलाँग सकते हैं।" और उन्होंने मोहरा चलकर दिखाया। फिर जैसे कुछ स्मरण हो आने से बोले, "एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है, यदि प्रतिद्वन्द्वी का कोई मोहरा मरता हो तो उसे मारना आवश्यक है, न मारा जायगा तो जुरमाने के रूप में वही मोहरा देना पड़ेगा।"

और यह सब समझाकर उन्होंने चाल चली।

उनकी पत्नी ने जवाबी चाल चली तो उन्होंने समझाया कि यह नहीं, यह चलो तो अच्छा है। उसने वही चल दी।

किन्तु अभी खेल चन्द चालों से आगे न बढ़ा था, जिनसे उनकी पत्नी की 'मूढ़ता' उन पर पूर्णतया सिद्ध हो गयी थी, उसके लगभग सारे मोहरे मर गये थे और श्री कोलार्कर का समस्त आनन्द किरकिरा हो गया था और उनकी इच्छा हो रही थी कि बिसात को उलटकर बिस्तर में जा लेटें कि नन्हा तुलसीराव नयी ताश के अस्त-व्यस्त पत्तों को दोनों हाथों में सम्हालता और उन्हें फ़र्श पर गिराता भागा आया और ड्राफ़्ट के मोहरों की ओर संकेत करके चिल्लाने लगा, "दो-चार लेंगा, ममी दो-चार लेंगा।"

चार-छः महीने पहले, जब वे बम्बई में थे, श्रीमती कोलार्कर ने एक दिन बच्चे को ड्राफ़्ट के मोहरों-जैसे गोल टुकड़े लाकर दिये थे, जिन पर एक से लेकर बीस तक अंक लिखे थे और बच्चा उन्हें 'दो-चार' कहता था।

स्नेह से उसकी माँ ने कहा, "इनसे नहीं खेलता, बेटा अपने पत्तों से खेलता है।"

किन्तु बेटे ने चीख़कर कहा कि वह दो-चार लेगा।

"मेरा बेटा कोई डर्टी ब्वाय है..." उसकी माँ उसे समझाना चाहती थी, किन्तु शब्द अभी उसके होंठों पर ही थे कि तड़ से एक थप्पड़ उसके बेटे के मुँह पर पड़ा और वह उसकी गोद में आ गिरा।

क्षण-भर के लिए श्री कोलार्कर को ध्यान आया कि वह तो बच्चा है, उसे

इन बातों की क्या समझ है ? किन्तु उसी क्षण उन्हें क्रोध आया की उसकी माँ ने उसे यह सब सिखाया क्यों नहीं और जैसे दुगने वेग से उन्होंने एक थप्पड़ उसके दूसरे गाल पर जड़ दिया। उनके मस्तिष्क की तनी हुई नसें और तन गयीं और जैसे इस अनवरत बरसती वर्षा, पंचगनी के गला घोंटने वाले एकान्त, अपनी बीमारी, पत्नी की मूर्खता—सबका क्रोध उन्होंने निरन्तर कई मुक्कों के रूप में अपने पुत्र की पीठ पर निकाल दिया और झल्लाये-हुए-से जाकर बिस्तर में धँस गये।

बच्चे की घिग्घी बँध गयी थी। सिसकियों के मध्य वह, "अब नहीं माँगता, दो-चार नहीं माँगता, अपने पत्तों के साथ खेलता है।" कहे जा रहा था और उनकी पत्नी उसे कन्धे से लगाये बाहों में भींचे जा रही थीं।

उसी क्षण श्री कोलार्कर की दृष्टि अपनी पत्नी से चार हुई। और उन्हें लगा जैसे उसकी दो आँखें लपकती हुई दो तलवारें हैं। कुछ ऐसी निन्दा, घृणा, उपेक्षा और आक्रोष उनमें लपलपा रहा था कि कोलार्कर उनका सामना न कर सके। अनायास उनकी आँखें झुक गयीं।

किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी पत्नी ने अपनी उस तीव्र-दृष्टि को अपने बच्चे की ओर मोड़ दिया और डाँटकर बोली :

"फिर तो पापा जी को तंग नहीं करेगा ?"

"नहीं करेगा !" सिसकियों के मध्य बच्चे ने उत्तर दिया।

और प्रबल इच्छा-शक्ति से, घने मेघों में झलक उठने वाले सूक्ष्म-से प्रकाश-सी मुस्कान अपने ओठों पर लाकर उनकी पत्नी ने बच्चे को छाती से भींचते हुए कहा :

"मेरा बेटा बड़ा गुड-ब्वाय है, पापा जी से क्षमा माँग लेता है।"

और नन्हें ने रोते हुए कहा, "पापा जी, क्षमा करो जी !"

"सन्धि करो पापा जी से !"

और वह नन्हें को कन्धे से लगाये हुए अपने पति के पास ले गयी और माँ की गोद से उतरकर रोते-रोते बच्चा श्री कोलार्कर के गले से चिमट गया।

सहसा श्री कोलार्कर के कण्ठ में कुछ गोला-सा उभर आया। उन्होंने

अनायास बच्चे को हृदय से भींच लिया। उनके नेत्र सजल हो गये, किन्तु उनकी पत्नी उनकी यह दुर्बलता न देख ले, इस विचार से उन्होंने प्रकट अपनी उदासीनता को बनाये रखा और कहा, "बस,बस!" और उसे अपनी पत्नी को वापस दे दिया।

दूसरे कमरे में श्रीमती कोलार्कर बच्चे को सुला रही थीं और नींद-भरे स्वप्निल स्वर में सिसकते-सिसकते माँ के साथ-साथ बच्चा कह रहा था, "पापा जी को तंग नहीं करता, अपने पत्तों से खेलता है, बाज़ार से दो-चार लायेंगा, पापा जी का खेल नहीं छेड़ेंगा!" और अपने कमरे में श्री कोलार्कर बिस्तर पर लेटे बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रहे थे।

माँ के स्निग्ध, सजल चुम्बनों से नन्हें के नेत्र मुँद गये और वह सो गया, किन्तु निद्रावस्था में भी वह सिसक रहा था! करुणा और स्नेह से अभिभूत एक दृष्टि उस पर डालकर श्रीमती कोलार्कर अपने पति के कमरे में आयीं।

"क्यों, सोये नहीं?"

"नींद नहीं आ रही!"

"सर दबा दूँ?"

"नहीं!"

"सोचता हूँ, योंही बच्चे को पीट दिया।"

"फिर क्या हुआ, मैं नहीं पीटती क्या?"

किन्तु श्री कोलार्कर को संतोष न हुआ। बोले, "मुझे व्यर्थ ही गुस्सा आ गया। बच्चा तो बच्चा ही है। इस प्रकार पीटने से बच्चे के दिल में डर बैठ जाता है।"

"डर किसी का तो होना ही चाहिए, मुझसे तो ज़रा भी नहीं डरता।"

श्री कोलार्कर का अहम् संतुष्ट हुआ, किन्तु उनकी झुँझलाहट दूर न हुई। उन्होंने अपनी पत्नी से जाकर सोने के लिए कहा और करवट बदल ली।

श्रीमती कोलार्कर कमरे की बत्ती बुझाकर चुपचाप चली गयीं। अपने कमरे में जाकर उन्होंने टेबल-लैम्प भी बुझा दिया, ताकि उनके पति की नींद

में किसी प्रकार की बाधा न पड़े ।

किन्तु उस घने अन्धकार में समस्त घटना अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण के साथ श्री कोलार्कर के सामने घूम गयी और यह सोचकर कि उन्होंने बच्चे को निपट निर्दोष पीटा है, उनकी नींद बिलकुल उड़ गयी।

एक घण्टे के बाद उनकी पत्नी फिर उनके कमरे में आयी।

"सोये नहीं क्या ?"

कोलार्कर सहसा हँस दिये, "नींद नहीं आयी !"

"आप तो नन्हें से बढ़ गये !" वह उनके सिरहाने आ बैठी और बड़े प्यार से उनका सिर दबाते हुए बोली, "उसे तो कुछ याद भी न रहेगा, देख लीजिएगा, प्रातः उठते ही आपको 'गुड-मार्निंग' बुलायेगा और अब तंग भी न करेगा। कभी-कभी दो-चार थप्पड़ लगाने में कोई हानि नहीं !" और इस प्रकार सान्त्वना देते हुए वह उनकी कनपटियाँ सहलाने लगी।

कुनमुनाकर श्री कोलार्कर ने अपना सिर अपनी पत्नी की गोद में रख दिया।

दस मिनट ही में वे खर्राटे लेने लगे।

बहुत धीरे-से उनकी पत्नी ने उनका सिर पुनः तकिये पर टिका दिया। बिना शब्द किये बिस्तर से उतरी, क्षण-भर उन्हें सोये हुए देखती रही, फिर दूसरे कमरे में जाकर उसने अनायास अपने सोये हुए बच्चे को चूम लिया।

●

भाई

बिन्नो के पिता झल्लाये हुए आये और बोले:

"बिन्नो एक हज़ार रुपया माँग रही है। अब मैं कहाँ से दूँ?"

"एक हज़ार!" बिन्नो के भाई ने आश्चर्य से पूछा। वह थका-हारा दफ़्तर से लौटा था और कपड़े बदल रहा था।

"अभी-अभी यह पत्र आया है। लो देखो!" और पत्र उसके हाथ में देकर बिन्नो के पिता क्रोध के मारे कमरे के अन्दर चक्कर लगाने लगे।

भाई ने पत्र पढ़ा। लिखा था:

"...हम लाहौर में एक मकान बनवाना चाहते हैं। ज़मीन तो हमने किसी-न-किसी तरह ख़रीद ली है, पर चार ईंटें धरने को रुपया नहीं। हमने डेढ़ वर्ष का वेतन पेशगी लेने का निश्चय किया है। सरकार बाद में काटती रहेगी। कुछ रुपया बिल्डिंग फ़ण्ड से भी आ जायगा, परन्तु इतने से तो दो दीवारें भी खड़ी न होंगी। आप जैसे भी हो, एक हज़ार रुपये का प्रबन्ध कर दीजिए। सरकार की काट के बाद मैं आपका रुपया चुका दूँगी..."

"तो दे दीजिए!" पत्र को बीच ही में छोड़कर भाई ने कहा, "सरकार का ऋण चुकाकर वह आपका रुपया लौटा देगी..."

"रुपया लौटा देगी या नहीं, यह तो बाद की बात है। प्रश्न तो यह है कि इतना रुपया आये कहाँ से? राय अभी तक बेकार बैठा है और सुरेन्द्र को ला कालेज में भरती कराना है।"

"परन्तु वह भी तो आपकी लड़की है।"

"लड़की है तो ब्याह-कर दी। अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। आख़िर तुम्हारी दूसरी बहनें भी तो हैं, और फिर राय और सुरेन्द्र..."

"किन्तु फिर भी आपको कुछ-न-कुछ तो देना ही चाहिए।"

तुम्हारी भी तो बहन है, तुम कुछ सहायता क्यों नहीं करते ?"

"मेरी आर्थिक स्थिति आपसे छिपी नहीं। फिर भी जो आदेश दीजिएगा, करूँगा।"

"मैं तो इस समय पाँच सौ से अधिक नहीं दे सकता।"

"बहुत अच्छा, मैं भी इतना जुटाने की कोशिश करूँगा।"

पिता ने भी पाँच सौ दिया, भाई ने भी पाँच सौ। पिता रिटायर्ड तहसीलदार थे और भाई क्लर्क। इस काम के लिए उसने अपनी पत्नी का एक गहना बेच दिया।

मकान बने अभी मुश्किल से महीना हुआ होगा कि एक दिन बित्तो के पति ने दफ़्तर से आकर दो लिफ़ाफ़े उसकी गोद में फेंक दिये और चुपचाप कपड़े बदलने लगा।

बित्तो ने उत्सुकतापूर्वक एक लिफ़ाफ़ा खोलकर पढ़ना शुरू किया। लिखा था :

प्रिय सावित्री,

तुम्हें मालूम है कि इस महीने सुरेन्द्र को लॉ कॉलेज में भरती होना है, मेरे पास इस समय रुपया नहीं। तुम उसे एक सौ रुपया दाख़िले के लिए दे देना, फिर यदि सम्भव हो तो बीस रुपया महीना देती रहना, नहीं मैं इस बीच में प्रबन्धकर लूँगा। मैं तुम्हें कष्ट न देता, पर विवश हूँ।

तुम्हारा प्यारा पिता

....

बित्तो ने जलकर कहा, "अभी मकान की सील भी नहीं सूखी और इन्हें रुपयों की पड़ गयी। एक बरस भी सबर न हो सका इनसे। सरकार की काट के बाद यहाँ तो सौ कौड़ियाँ भी नहीं बचतीं, सौ रुपया कहाँ से दूँ!"

पति ने कोई उत्तर न दिया। मौन रूप से मोज़े उतारने में व्यस्त रहा।

बित्तो ने अनमने भाव से दूसरा लिफ़ाफ़ा उठाया और उसे पढ़ने लगी। लिखा था :

प्रिय बित्तो,

मैंने पिता जी के मेज़ पर एक पत्र देखा था जो वे तुम्हें लिख रहे थे। इसमें उन्होंने तुमसे सौ रुपया माँगा है। मुझे मालूम है कि तुम दे न पाओगी, पर यदि तुम रुपया न लौटाओगी तो पिता जी की दृष्टि में तुम्हारा और भाई साहब का मान घट जायगा।

मैं तुम्हें सौ रुपया भेज रहा हूँ। जब सुरेन्द्र आये, उसे चुपचाप दे देना। जैसे-तैसे तुम्हें बीस रुपया मासिक पहुँचाने का भी प्रयास करूँगा।

तुम्हारा भाई

....

उसका पति हाथ-मुँह धोने चला गया। बित्तो की आँखों में क्रोध के बदले आँसू छलछला आये।

कैप्टन रशीद

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी, अपनी इस नय स्कीम में उसे क्यों नहीं ले लेते ?"

कैप्टन रशीद अपनी ट्यूनक के बटन बन्द करते हुए अपने स्वभावानुसार कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उनका मस्तिष्क अपने साप्ताहिक की कायापलट करने में निमग्न था। कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने नये, योग्य और अनुभवी सम्पादक चुन लिये थे। प्रेस को नया टाइप ढालने और हेड आफ़िस को बेहतर काग़ज़ सप्लाई करने पर विवश कर दिया था। साप्ताहिक सुन्दर टाइप में, सुन्दर काग़ज़ पर छपने लगा था। उसमें चित्रों के पृष्ठ बढ़ गये थे। उसके सम्पादन में अब आकाश-पाताल का अंतर आ गया था और सैनिकों के लिए वह पहले से कहीं अधिक उपयोगी हो गया था। तन्द्रावस्था में कानों के पर्दों से टकराने वाली अस्पष्ट ध्वनियों की भाँति उनकी पत्नी के ये शब्द उनके कान में पड़े। उनकी भवें तन गयीं और कुछ मुड़कर आश्चर्य-मिश्रित क्रोध से उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा।

वह बिस्तर पर बैठी चाय बना रही थी। कैप्टन रशीद सुबह नौ बजे के बदले सदैव पौने नौ बजे दफ़्तर पहुँच जाना चाहते थे। अफ़सर थे और उनका ख़याल था कि अफ़सरों को क्लर्कों से पन्द्रह मिनट पहले अपनी सीट पर होना चाहिए। वे सवा आठ बजे तैयार हो जाते। उन्हें अलार्म लगाकर सुबह उठना पड़ता और उनकी बेगम सोने के कमरे ही में चाय लाने का आर्डर दे देती।—प्याले में चीनी डालते हुए बेगम के होंठों पर शिशिर की संकोचशील अरुणाभा की-सी मुस्कान फैली और मुख पर प्रार्थना-जनित लाली दौड़ गयी। कनखियों से अपने पति की ओर देखते हुए, प्याले को चम्मच से हिलाते-हिलाते उसने

फिर वही प्रार्थना दोहरानी शुरू की ।

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी......"

"तुम बेवकूफ़ हो !" कैप्टन रशीद ने असन्तोष से कहा, भवें सिकोड़ीं, मुँह बिगाड़ा, चाय का प्याला उठाया और फिर कमरे में चक्कर लगाने लगे ।

उनकी बेगम चुपचाप उन्हें प्याला उठाये दीवार की ओर जाते देखती रही। उसकी दृष्टि अपने इस कप्तान पति के गञ्जे होते हुए सिर के पिछले, ज़रूरत से ज़्यादा उभरे हुए भाग, पतली-सी गर्दन और ढालवें कन्धों से पीठ और सिकुड़े हुए कूल्हों पर फिसलती उसके पाँवों पर आ टिकी । उसने देखा—उसके पति की चाल में काफ़ी अंतर आ गया है । उसी दिन क्यों, जब से कैप्टन रशीद इस नये पद पर नियुक्त हुए थे, बेगम रशीद ने इस अंतर को देखा था । उनकी पतली-सी गर्दन अब इस तरह अकड़ी रहती थी, जैसे उसका पट्ठा चढ़ गया हो । चलते समय वे प्रायः अपनी एड़ियाँ उठा लेते थे और दीवार के पास पहुँचकर जब मुड़ते थे तो एक विचित्र गर्व और महत्त्व की अनुभूति से पञ्जों पर लट्टू की तरह घूम जाते थे ।

कैप्टन रशीद की चाल ही नहीं, उनके स्वभाव तक में अंतर आ गया था । उनकी दृष्टि, जो पहले कुछ अजीब-सी पीड़ित, आकुल, उदास और झुकी-झुकी-सी रहती थी, अब कुछ ऐसी तेज़ हो गयी थी जैसे अपने सामने किसी दूसरे को कुछ भी न समझती हो । बातचीत करते समय प्रायः दूसरे को मूर्ख समझकर वे एक विचित्र व्यंग्य से मुस्करा देते थे या अत्यन्त उपेक्षा से होंठ सिकोड़ लेते थे ।

कुछ क्षण बेगम रशीद अपने पति को प्याले से चुस्की लेते और घूमते देखती रही । अपनी ख़ाला के दामाद और अपनी सहेलियों-सी बहन के पति को अपनी नयी स्कीम में लेने की प्रार्थना पर उसके पति ने बे-माँगे जो उपाधि उसे दे दी थी, उस पर उसे क्रोध नहीं आया । कैप्टन रशीद ने पहले-पहल जब वर्दी पहनी थी तो उसके दोनों जेठ उन्हें देखकर हँसा करते । बड़े जेठ एक विचित्र व्यंग्यमयी मुस्कान से कहा करते, "भाई, कैसे-कैसे जवाँ मर्द फ़ौज में

भर्ती हो रहे हैं आज-कल !" और छोटे उन्हें देखते ही यह शेर गुनगुनाना शुरू कर देते :

तस्वीर मेरी देखकर कहने लगा वो शोख़,
यह कारटून अच्छा है अख़बार के लिए !

और जेठानियाँ यह सुनकर हँसी को रोकने के लिए मुँह में दुपट्टे ठूँस लेतीं और वह स्वयं लज्जा के मारे सिर झुका लेती। यही कारण था कि अब अपने पति की सफलता, उसकी तनी हुई गर्दन, उसका भ्रू-भंग और उसकी तुनक-मिज़ाजी देखकर उसे एक प्रकार का सन्तोष ही होता। उसे अच्छी तरह मालूम था कि अब उसका छोटा जेठ अपना शेर भूल गया है और बड़े जेठ को भी अपने इस तिनके-से भाई की सफलता को देखकर शर्म आने लगी है—आख़िर उसके पति ने अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया था ! उसने जो कहा था, कर दिखाया था। अपने ख़ानबहादुर पिता की सिफ़ारिश के बिना, केवल अपने परिश्रम, योग्यता और दयानतदारी के बल पर कैप्टन बना और इस नये पद के लिए चुना गया। उसके कानों में अपने पति के वे शब्द गूँज जाते जो उसने अपनी नियुक्ति के समय कहे थे, 'मैं ही पहला हिन्दुस्तानी हूँ, जिसे इस आसामी के लिए चुना गया है, नहीं आधी सदी हो गयी इस अख़बार को निकलते हुए, कभी कोई हिन्दुस्तानी इसका एडीटर नहीं बना।'

उनकी बेगम ने गर्व से अपने पति की ओर देखा। कैप्टन रशीद ने प्याला ख़त्म करके तिपाई पर रख दिया था और बिस्कुट दाँतों में लिये घूमने लगे थे। प्याले की बची हुई चाय ख़ाली प्लेट में उँडेलते हुए बेगम रशीद ने फिर घुमा-फिराकर हनीफ़ की बात चलायी :

"आपा शमीम चाहे हमारी ज़रा दूर की रिश्तेदार होती हैं," उसने कहा, "पर आप जानते हैं, मैं उन्हें कितना मानती हूँ। हम दोनों में बहनों से ज़्यादा मुहब्बत रही है।"

वह क्षण-भर के लिए रुकी। कैप्टन रशीद पूर्ववत् घूमते रहे। बेगम ने फिर कहा :

"ख़ाला शमीम के बारे में परेशान हैं। चार बरस उसकी शादी को हो

गये। घर में दो-दो बच्चे हैं, लेकिन भाई हनीफ़ को अभी तक कोई अच्छी नौकरी ही नहीं मिली।"

वह फिर निमिष-भर के लिए रुकी। उसने दूसरे प्याले में चाय ढाली। कैप्टन रशीद निरन्तर घूमते रहे। उनकी भवें तन गयीं, जिससे उनके मस्तक पर नाक की सीध में एक आड़ी लकीर बन गयी, चलते समय पैरों पर उनके शरीर का बोझ बढ़ने लगा। बेग़म ने अपनी बात जारी रखी :

"इस महँगाई के ज़माने में साठ रुपये से तो एक आदमी की रोटी भी नहीं चलती," उसने लम्बी साँस भरी, "फिर आपा शमीम के दो-दो बच्चे, सास और ससुर हैं।"

वह प्याले में चीनी हिलाने लगी। कैप्टन रसीद ने अब भी उत्तर न दिया। उनके होंठ बिगड़ने लगे और दृष्टि में उपेक्षा की लकीर और भी स्पष्ट हो चली, किन्तु एक तो उनका मुख अपनी बेगम की ओर न था, दूसरे वह चीनी हिलाने में निमग्न थी, इसलिए उसकी बात का जो प्रभाव उसके पति की आकृति पर हो रहा था, उसकी ओर ध्यान दिये बिना प्याले में चम्मच हिलाते-हिलाते बेगम अपनी बात कहती रही :

"जिनको अँग्रेज़ी की ए-बी-सी तक नहीं आती वे तो आज-कल दो-दो सौ रुपया पा रहे हैं। हनीफ़ भाई तो बी० ए० आनर्स हैं, लेकिन वे लोग ग़रीब हैं और सिफ़ारिश उनकी......"

अब कैप्टन रशीद के लिए अपने-आप को रोकना कठिन हो गया —'ओ बेवकूफ़ औरत!' उन्होंने दिल-ही-दिल में तिलमिलाते हुए कहा, 'क्या मैंने किसी की सिफ़ारिश से यह नौकरी हासिल की है? मेहनत, लियाक़त और दयानतदारी—दुनिया में यही कामयाबी की कुञ्जी है। मैंने यह स्कीम हनीफ़-जैसे मूर्ख, निकम्मे, कामचोर और नाक़ाबिल आदमियों के लिए नहीं बनायी। मुझे तजरुबेकार, मेहनती और इनिशियेटिव (Initiative)[1] लेने वाले जनलिस्ट

१—इनिशियेटिव लेने = स्वयं अपनी बुद्धि से कोई काम आरम्भ करने वाले।

चाहिएँ।'—लेकिन अपने हमज़ुल्फ़[1] की शान में प्रकट उन्होंने कुछ नहीं कहा। उपेक्षा-मिश्रित दया से भरी एक दृष्टि उन्होंने अपनी इस वज्र-मूर्खा पत्नी पर डाली। घड़ी में समय देखा। आठ हो गये थे। "मुझे जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, क्लर्कों की नहीं!", सिर्फ़ इतना कहकर, दूसरा प्याला पिये बिना वे बाहर निकल गये।

उनकी पत्नी निराशा से वहीं-की-वहीं बैठी रही। यद्यपि चीनी कब की हल हो गयी थी, पर वह विफल उसमें चम्मच हिलाती रही।

कैप्टन रशीद अपने मिलिट्री कान्ट्रेक्टर (ख़ानबहादुर) बाप के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र थे। अपने दोनों भाइयों की अपेक्षा वे कृश काय थे, किन्तु उनका मस्तिष्क अपने भाइयों के मुक़ाबिले में बड़ी तेज़ी से काम करता था। खेल-कूद में पिछड़ जाने पर भी वे इन दोनों 'बैलों' को (उपेक्षा से दिल-ही-दिल में वे उन्हें हराम का माल खा-खाकर पले हुए बैल कहा करते थे।) कहीं पीछे छोड़ देने के स्वप्न देखा करते थे। यही कारण था कि जब उनके दोनों भाई उचित या अनुचित ढंग से कमायी हुई अपने पिता की सम्पति को उचित या अनुचित ढंग से ठिकाने लगाने में निमग्न थे, कैप्टन रशीद जी-जान से शिक्षा-प्राप्ति में रत थे। कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके उन्होंने पत्रकार-कला की शिक्षा ली थी और अभी मुश्किल से उन्होंने जर्नलिज़्म का कोर्स पूरा किया था कि उन्हें कमीशन मिल गया। यद्यपि इस पद के लिए उनके निर्वाचन की तह में ख़ानबहादुर का रुसूख़ ही काम करता था पर कैप्टन रशीद इसका कारण अपनी योग्यता ही समझते थे और उन्हें इस बात का सन्तोष था कि वे पूर्णतया इस पद के योग्य हैं।

यह साप्ताहिक, जिसके सम्पादक बनकर वे आये थे, उन अनगिनत सैनिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह न था जो द्वितीय महायुद्ध में बरसाती कुकरमुत्ता की भाँति उग आये थे। चालीस-पचास वर्ष पहले अफ़गानिस्तान के क़बायली

१—साली का पति।

इलाके में लड़ने वाले सैनिकों के हितार्थ इसका सूत्रपात किया गया था और उस समय, जब कैप्टन रशीद ने इसकी बागडोर अपने हाथ में सम्हाली, यह छ:-सात भाषाओं में निकलता था।

साधारण समाचार-पत्रों तक सैनिकों की पहुँच नहीं होती। घर से सहस्रों योजन दूर, जंगलों, पहाड़ों, वीरानों और रेगिस्तानों में उन्हें लड़ना पड़ता है और यद्यपि उस समय भी उनके बेकार समय को खेल-तमाशों से भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था, फिर भी किसी ऐसे मुख-पत्र की आवश्यकता अनुभव की गयी जो उन; लगभग अपढ़, सिपाहियों की ऐसी घड़ियों को भर सके जो शारीरिक श्रम, खेल-कूद, गप-शप के बाद उन पर भारी बन जाती हैं; जब उन्हें घर की, बाल-बच्चों की (बाल-बच्चों से प्रिय खेत-खलिहानों की) याद सताती है; जब वे अपने जिले (और इस प्रकार अपने गाँव) के मौसम तथा फ़सलों की स्थिति, बीबी-बच्चों की ख़ैर-ख़बर, सगे-सम्बन्धियों, मित्र-स्नेहियों के सगाई-विवाह तथा जन्ममरण के समाचार जानने के लिए आतुर हो उठते हैं। उनकी इसी आवश्यकता को किसी हद तक पूरा करने के लिए यह पत्र निकाला गया था और पहले-पहल इसकी परिधि केवल दो पृष्ठों तक सीमित थी और इसे निकालने के लिए बहुत छोटा स्टाफ़ था।

यद्यपि प्रत्येक युद्ध के बाद इस स्टाफ़ में कुछ ट्रान्सलेटर-क्लर्कों की वृद्धि होती गयी थी और व्यवस्थापक-अमला भी बहुत बड़ा हो गया था, परन्तु इसके सम्पादन और व्यवस्था का ढंग वही पचास वर्ष पुराना था।

पत्र का अधिकांश मसाला सरकार के सूचना-विभाग से सप्लाई होता था। उप-सम्पादक और प्राय: अँग्रेज़ी का टाइपिस्ट ही उसका सम्पादन कर लेता। यह मसाला टाइप हो जाता। एक-एक कापी सभी सेक्शनों में बँट जाती और उसका अनुवाद हो जाता। कोई भी ऐसी चीज़ दूसरे ऐडीशनों में न छप सकती जो अँग्रेज़ी में न छपती हो। गप-शप और लतीफ़े भी पहले अँग्रेज़ी ही में लिखे जाते और फिर अँग्रेज़ी से अनूदित होते। दूसरे संस्करण सैनिकों के लिए होते और अँग्रेज़ी का उनके अफ़सरों के लिए, ताकि वे देख सकें कि पत्र में कोई ऐसी-वैसी विद्रोहात्मक अथवा राजनीतिक रचना तो नहीं छपती। लेखों और

उनके शीर्षकों तक में कोई परिवर्तन न किया जाता।

कैप्टन रशीद ने चार्ज सम्हालते ही इस पत्र को एक पत्रकार की निगाहों से देखा। उनकी भवें तन गयीं, होंठ बिगड़ गये—अतीव उपेक्षा से पत्र को मेज़ पर पटकते हुए उन्होंने कहा—'रब्बिश !' (Rubbish) और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उन्होंने समाचार-पत्र की मुर्दा नसों में नये प्राण डालने की स्कीम बना ली।

हेड आफ़िस में उनके अफ़सरों ने शोर मचाया कि फ़ाइनान्स (Finance) वाले इस स्कीम को कैसे स्वीकार करेंगे ? आधी शताब्दी से जो पत्र बड़े आराम से चलता आया है, उसमें इतने बड़े परिवर्तन पर वे किस प्रकार चुप रहेंगे ? इस स्कीम को मान लेना तो पहले अफ़सरों को मूर्ख मान लेने के बराबर होगा ...आदि, आदि...

लेकिन कैप्टन रशीद इस बहस के लिए पूरे तौर पर तैयार होकर गये थे। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ पहले इस पत्र के महत्त्व का जिक्र किया, "यह भारतीय सेना का एक मात्र ऑर्गन है," उन्होंने कहा, "इसके द्वारा न केवल हम सैनिकों को अपनी नीति के अनुसार ढाल सकते हैं, बल्कि उनकी एक बड़ी ज़रूरत को पूरा करते हैं।" फिर उन्होंने कहा कि आज के भारतीय सैनिक पचास वर्ष पहले के सैनिकों से राजनीतिक तौर पर कहीं अधिक जाग्रत हैं, इसलिए अख़बार को और भी दानाई से निकालने की ज़रूरत है।" इसके बाद उन्होंने इस बात की शिकायत की कि इतने महत्त्वपूर्ण अख़बार को इतने अर्से से केवल क्लर्क ही निकालते रहे हैं, जिन्हें जर्नलिज़्म दूर रहा—अनुवाद-कला तक का कोई अनुभव नहीं। उन्होंने उर्दू-संस्करण से अनुवाद के कुछ नमूने दिखाये कि किस प्रकार अनुवादक मक्खी पर मक्खी मारकर पत्र का सत्यानाश कर रहे हैं। फिर उन्होंने एक सर्वथा नयी युक्ति पेश की, "मैं अँग्रेज़ी का ऐडीशन देख सकता हूँ," उन्होंने कहा, उर्दू का भी देख सकता हूँ, लेकिन हिन्दी, गुरुमुखी, तमिल, तेलुगु और मराठी का तो नहीं। साठ-साठ रुपया पाने वाले क्लर्कों के हाथ में ये ऐडीशन छोड़ दिये गये हैं। कौन जाने वे इनमें क्या छापते हैं, क्या नहीं छापते। हर ऐडीशन का एडीटर एक

जिम्मेदार जर्नलिस्ट होना चाहिए, जो न सिर्फ़ अख़बार के हर मज़मून पर नज़र रखे, बल्कि इसकी एडीटिंग में भी जंग की नयी ज़रूरतों के मुताबिक तब्दीली करता रहे।"

उनकी बात मान ली गयी। पत्र के प्रत्येक संस्करण के लिए ढाई ढाई सौ रुपये के वेतन पर एक-एक उप-सम्पादक और अँग्रेज़ी के लिए एक नया अनुभवी उप-सम्पादक रखने की स्कीम बनी और उसे वित्त-विभाग को भेज दिया गया।

वित्त-विभाग ने पहले-पहल केवल चार सेक्शनों के लिए सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दी और कहा कि यदि इससे समाचार-पत्र में कोई विशेष अंतर दिखायी दिया तो शेष दो सेक्शनों के लिए भी सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दे दी जायगी।

सर्दियों के दिन थे और यद्यपि आठ बज चुके थे, किन्तु धूप जैसे इस शीत में जागते हुए डर रही थी और इर्द-गिर्द की कोठियों के बासियों की भाँति कहीं पूरब की सेज पर लिहाफ़ ओढ़े सो रही थी। आकाश की निद्रालस आँखों में अभी रात की खुमारी थी, किन्तु धरती जाग चुकी थी। दोनों ओर की कोठियों में यूकलिप्टस, जामुन, शिरीष, आम, नीम के बृहत् पेड़ों की अपेक्षाकृत नंगी डालियाँ आकाश की निंदासी आँखों को चूम रही थीं। ठण्डी हवा चल रही थी और पेड़ों के पत्ते सड़क और फ़ुटपाथों पर उड़ रहे थे।

कैप्टन रशीद की आँखें न उस समय आकाश का ख़ुमार देख रही थीं, न धरती की मस्ती; वे तो अपने सामने अपने पत्र को चोला बदलते हुए देख रहे थे। उनकी कल्पना में तो उनका पत्र साँप की तरह अपनी पुरानी केंचुली उतारकर नयी बदल रहा था। अपने दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले वे अपने मस्तिष्क में उन चार आसामियों के चुनाव-हेतु आने वाले प्रार्थियों से इण्टरव्यू कर रहे थे।

आसामियाँ यद्यपि चार ही थीं, किन्तु उनके लिए (युद्ध काल में बेकारों का अभाव होने के बावजूद) अगनित आवेदन-पत्र आये थे। कैप्टन रशीद

ने उनमें से केवल बीस को इण्टरव्यू के लिए बुलाया था। हर सेक्शन के लिए उन्होंने पाँच-पाँच दरख़्वास्तें चुन ली थीं। इन प्रार्थियों में से कुछ प्रतिष्ठित पत्रों में काम करते थे। उनकी योग्यता और अनुभव से वे स्वयं परिचित थे। यही कारण था कि चुनाव में उन्हें कठिनाई-सी हो रही थी। कल्पना-ही-कल्पना में वे कभी इसको और कभी उसको चुनते हुए दफ़्तर पहुँचे।

दफ़्तर को झाड़-पोंछकर चपरासी उनकी प्रतीक्षा में एक स्टूल पर बैठा था। उनके पहुँचते ही एकदम खड़े होकर उसने उन्हें फ़ौजी सलाम किया।

कैप्टन रशीद ने उसके सलाम का उत्तर नहीं दिया। अपने विचारों में मग्न वे कुर्सी पर जा बैठे। कुर्सी को छूते ही जैसे वे चौंके और उन्होंने घण्टी पर हाथ मारा—'टन !'

मानो रबड़ के तार से खिंचा हुआ चपरासी आ उपस्थित हुआ।

"पण्डित जी को सलाम दो !" पत्र का ताज़ा एडीशन उठाते हुई कैप्टन रशीद ने आदेश दिया।

अपने अफ़सर को समय से पहले आते देखकर जो क्लर्क उससे भी पहले आने लगे थे, उनमें पण्डित किरपाराम सब से आगे थे। पचपन वर्ष की बेफ़िक्री और बेकारी के कारण मोटा थलथल-पिलपिल शरीर, गञ्जा सिर और अगले दाँतों से वंचित मुँह—इस पत्र के दफ़्तर में वे एक नवयुवक क्लर्क के रूप में आये थे और समय-समय पर हिन्दी उर्दू, गुरुमुखी तीनों सेक्शनों के ट्रान्सलेटर और फिर इंचार्ज रह चुके थे। अनुवाद-कला में उन्हें योग्यता प्राप्त हो, यह बात न थी। योग्यता प्राप्त होना तो दूर रहा, वे तो इस कला से नितान्त अनभिज्ञ थे, किन्तु उन्हें उस कला में पूरी-पूरी निपुणता प्राप्त थी जो प्रायः सरकारी दफ़्तरों में एक क्लर्क को दूसरों से आगे निकल जाने में सहायता देती है। अनुवाद तो उनके दूसरे मन्द-भाग्य साथी करते थे। उनका काम तो साहब के लिए टैक्सी, राशन, पेट्रोल, मुर्ग़े-मुर्ग़ियों से लेकर साहब की मेम के लिए पाउडर, रूज़, क्रीम और ऐसी ही अनगिनत दूसरी चीज़ें जुटाना होता। सुबह आते समय और संध्या को जाते समय वे नियमित रूप से साहब को सलाम करते जब साहब हेड आफ़िस जाते तो वे प्रायः उनकी अर्दल में जाते, नहीं तो कम-

से-कम कार तक छोड़ने ज़रूर जाते और जब साहब वापस आते तो वे उन्हें कार से लेने अथवा हेड आफ़िस का हाल-चाल जानने अवश्य पहुँचते। साहब की मुस्कान पर खीसें निपोर देना और परेशानी पर भवें चढ़ा लेना उन्हें ख़ूब आता था। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत वे धीरे-धीरे उन्नति पाते हुए सेक्शन के इंचार्ज हो गये थे। इससे पहले कि चपरासी उन्हें साहब का सलाम देने जाता, वे दाँत निकोसते हुए स्वयं साहब को सलाम करने आ पहुँचे।

साहब ने उनके सलाम का उत्तर ज़रा-सा सिर हिला कर दिया। मुस्कान का उत्तर देना शायद उसने उचित नहीं समझा।

इस नये देसी साहब के मनोविज्ञान को समझने में सर्वथा असफल रहने के कारण पण्डित जी केवल खिन्नता से किंचित् हँसकर खड़े रह गये।

"आज कितने लोग इन्टरव्यू के लिए आ रहे हैं?"

पण्डित जी फ़ाइल लेने भागे।

कैप्टन रशीद ने अख़बार का ताज़ा एडीशन उठाया। पहले पृष्ठ पर ही टाइप की इतनी ग़लतियाँ थीं कि उनका ख़ून खौल उठा। यह देख वे प्रेस के मालिक को फ़ोन करने ही वाले थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

"हैलो!" चोंगा उठाते हुए उन्होंने कुछ असन्तोष के स्वर में कहा।

दूसरी ओर उनके पिता थे।

"छद्दू," उनके स्वर को पहचानकर ख़ानबहादुर बोले, "तुमसे शायद तुम्हारी अम्मा ने कहा होगा, बेटा ज़रा हनीफ़ का ख़्याल रखना। कल वह मेरे पास आया था। वह अपना रिश्तेदार भी है और फिर......"

"लेकिन अब्बा जान, आप क्या कहते हैं?" कैप्टन रशीद ने अपने पिता की बात काटकर कहा, "हनीफ़ तो इस पोस्ट के बिलकुल नाक़ाबिल है।"

"नाक़ाबिल," दूसरी ओर से ख़ानबहादुर बोले, "बी० ए० आनर्स है।"

"बी० ए० आनर्स होने से कोई जर्नलिस्ट तो नहीं बन जाता अब्बा जान! मुझे तजरुबेकार जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, जो अख़बार की काया पलट दें। हनीफ़ को तो जर्नलिज़्म की ए-बी-सी का भी इल्म नहीं।"

"अरे भाई सीख लेगा। कौन-सी चीज़ है जो मेहनती आदमी..."

अपने पिता के हठ पर कैप्टन रशीद की भृकुटी तन गयी। पर बड़ी कठिनाई से अपने-आप पर संयम रख, पिता की बात काटते हुए उन्होंने कहा, "यह अख़बार का दफ़्तर है अब्बा जान, जर्नलिज़्म का स्कूल नहीं। मैं नाक़ाबिल एडीटर ले लूँगा तो अफ़सर क्या कहेंगे! हनीफ़ दूसरों के साथ किस तरह अपनी चाल क़ायम रख सकेगा। जिन ट्रान्सलेटरों का उसे अफ़सर बनाया जायगा, वो अपने दिल में क्या ख़याल करेंगे, सभी हँसेंगे!"

"सरकार के दफ़्तरों में एक-से-एक बढ़कर बेवकूफ़ भरे पड़े हैं।" अनुभवी ख़ानबहादुर बोले।

"आप मुझसे बद-दयानती करने को कहते हैं!" कैप्टन रशीद गरजे। उनकी आवाज़ इतनी ऊँची उठ गयी कि परले कमरे में क्लर्क दम साधकर बैठ गये।

"तुम तो बेवकूफ़ हो!" और यह कहकर उनके पिता ने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया।

ठक से चोंगे को फ़ोन पर रखकर कैप्टन रशीद उठे। इन्टरव्यू में आने वाले प्रार्थियों की फ़ाइल उनके सामने खोलकर पण्डित किरपाराम खड़े मुस्करा रहे थे। कैप्टन रशीद ने अंगारा-सी आँखों से उनकी ओर देखा और मुस्कान मानो पण्डित जी के ओठों पर पीली पड़ गयी।

"तो...तो...मैं..."

"आप जा सकते हैं।"

और यह कहकर ट्यूनिक के दोनों कालरों को दोनों हाथों से पकड़े कैप्टन रशीद कमरे में चक्कर लगाने लगे।

घूमते-घूमते उनके सामने प्रेस के मालिक ख़ानबहादुर और अपने ख़ान-बहादुर पिता का चित्र खिंच गया और अपने ख़ानबहादुर पिता का सब क्रोध प्रेस के मालिक ख़ानबहादुर पर निकालने के लिए, जो पत्र की निकृष्टतम छपाई करता था, उन्होंने फिर चोंगा उठाया, लेकिन तभी बाहर मेजर सलीम की मोटर आकर रुकी और दूसरे क्षण मेजर सलीम अपनी अलसायी हुई मुस्कान ओठों पर लिये एक युवक के साथ अन्दर दाख़िल हुए।

कैप्टन रशीद ने चोंगा वहीं रखकर उन्हें फ़ौजी सलाम किया। यद्यपि

मेजर सलीम से उनका सम्बन्ध लगभग मित्रों-जैसा हो गया था, किन्तु कैप्टन रशीद सैनिक डिसिपलिन के अनुसार उन्हें अब भी सलाम ही किया करते थे।

मेजर सलीम हँसे। "आप भी रशीद साहब बस..." और उन्होंने सलाम का जवाब देने के बदले हाथ बढ़ा दिया। "बैठिए, बैठिए!" उन्होंने अपनी अलसायी-सी मुस्कान से कहा, "इतना तकल्लुफ़ न कीजिए।" और इससे पहले कि कैप्टन रशीद अपनी कुर्सी पर बैठते, उन्होंने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—"ये हैं मि० ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०! हिन्दी के जाने-माने लेखक और जर्नलिस्ट हैं। उर्दू भी जानते हैं। कई अख़बारों में काम कर चुके हैं और कई किताबें लिख चुके हैं। कुछ दिन अख़बार के हिन्दी-एडीशन में ये आपकी मदद करेंगे।" और मेजर साहब ने घण्टी बजायी और चपरासी से पण्डित जी को सलाम देने के लिए कहा।

लेकिन पण्डित जी तो मोटर देखकर स्वयं ही मेजर साहब को सलाम देने चल आ रहे थे।

"पण्डित जी, ये हैं मिस्टर ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०," मेजर साहब बोले, "ये कुछ दिन हिन्दी के काम में मदद देंगे।"

और उन्होंने श्री भार्गव से पण्डित जी के साथ जाने को कहा।

जब दोनों चले गये तो मेजर सलीम बोले, "ये कर्नल चोपड़ा के आदमी हैं। आप किसी तरह इन्हें अपने यहाँ रख लीजिए। आदमी लायक हैं, आपको किसी तरह की तकलीफ़ न होगी।"

"ये किसी अख़बार में काम करते हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

"अभी तो ये बर्मा से भागकर आये हैं। यहाँ एक फ़र्म में केनवेसर हैं, लेकिन वहाँ 'बर्मा-समाचार' नाम से एक अख़बार निकाला करते थे।"

"लेकिन ट्रान्सलेशन..."

"इन्होंने दो अँग्रेज़ी किताबों का हिन्दी में तरजुमा किया है। कर्नल हडंन ने अँग्रेज़ी में 'पोल्ट्री फ़ार्म' के नाम से जो किताब लिखी है, उसका उल्था इन्होंने हिन्दी में किया है। आज-कल हमारी फ़ौजों के सामने अण्डे जुटाने का सवाल बुरी तरह पेश है। यूनिटों को अपने निजी मुर्ग़ीख़ाने खोलने के लिए

कहा जा रहा है। आप कर्नल हर्डन की किताब को अँग्रेज़ी में किस्तों से छापिए। उर्दू और हिन्दी में भार्गव साहब आपको मसाला तैयार कर देंगे।"

और जैसे एक बड़े बोझ को सिर से उतारकर मेजर सलीम कुर्सी पर पीछे को झुक गये और सिगार सुलगाने लगे। एक लम्बा कश खींचकर उन्हों इतना और कहा, "यह किताब हमारे जवानों के बड़े काम की है, उनमें से ज़्यादातर किसान हैं और उनको लड़ाई के बाद मुर्गियाँ पालने का कारबार करना पड़ेगा।"

कैप्टन रशीद चुप रह गये। उन्होंने एक प्रसिद्ध हिन्दी-दैनिक के स्टाफ़ से एक अनुभवी पत्रकार को लेने की सोच रखी थी। उनके लिए वहाँ बैठना कठिन हो गया। वे स्वयं सिगरेट पीने के आदी न थे, किन्तु उन्होंने अफ़सरों और दूसरे विज़िटरों की आवभगत के लिए केवेण्डर का एक डिब्बा रख छोड़ा था। कभी-कभार स्वयं भी उनके साथ सुलगा लेते थे। उस समय उन्हें कुछ ऐसी घबराहट हुई कि उन्होंने उठकर डिब्बे में से एक सिगरेट निकाला और उसे सुलगा लिया।

कुछ ही कश खींचने से उनका मुँह कड़ुवा हो गया, मेजर सलीम की आँख बचाकर उन्होंने सिगरेट खिड़की से बाहर फेंक दिया। उनका जी हो रहा था कि दोनों हाथ पतलून की जेब में डालकर कमरे में तेज़-तेज़ चक्कर लगायें, लेकिन मेजर की उपस्थिति में उन्हें ऐसा करना ठीक न लगा। वे फिर आकर कुर्सी पर बैठ गये और कुछ संकोच के साथ बोले :

"आपका ख़याल है, ये साहब अख़बार में फ़िट कर जायँगे। जर्नलिज़्म का मामूली तजरुबा तो हमारे ट्रान्सलेटरों को भी है। हम तो क़ाबिल जर्नलिस्ट चाहते हैं।"

मेजर सलीम ने जैसे उनकी बात नहीं सुनी। सिगार के एक-दो कश खींचकर उन्होंने कहा :

"कर्नल चोपड़ा आपकी सिफ़ारिश कर रहे थे।"

"मेरी!"

"वे कहते थे कि आपको मेजर की रैंक मिलनी चाहिए, क्योंकि आप से

पहले इस अख़बार के जितने एडीटर रहे हैं, सभी मेजर थे।"

कैप्टन रशीद श्री भार्गव के सम्बन्ध में कुछ और पूछने जा रहे थे कि चुप हो रहे और यह सुसमाचार सुनाकर मेजर सलीम उठे और फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद आ गयी हो, उन्होंने कहा, "आज तो मीटिंग है।"

"मीटिंग।"

"ब्रिगेडियर कल फ्रण्ट से लौटे हैं, उसी सिलसिले में वे कुछ ज़रूरी बातें करना चाहते हैं। चलिए मेरे साथ ही चलिए।"

"लेकिन इन्टरव्यू......?"

"क्या वक्त दिया है इन्टरव्यू का आपने ?"

"ग्यारह से चार तक।"

"जब तक तो आप बीस बार लौट आएँगे।"

विवश होकर कैप्टन रशीद असिस्टेण्ट एडीटर लेफ्टिनेण्ट अलीगुल खाँ के कमरे में गये, "मुझे ज़रूरी तौर पर मीटिंग में जाना पड़ रहा है। इण्टरव्यू के लिए जो साहब आयें, उन्हें बैठाइए। उनसे बातचीत कीजिए। मैं जल्दी आने की कोशिश करूँगा।"

यह कहकर वे कार में मेजर साहब की बग़ल में जा बैठे।

शाम के साढ़े पाँच बजे उनकी कार हेड-आफ़िस से वापस आयी तो उनके साथ एक सिख सूबेदार साहब भी उतरे।

फ्रण्ट से आने के बाद ब्रिगेडियर साहब जो ज़रूरी बात उनको बताना चाहते थे, वह यह थी कि पत्र में बहुत से टेकनिकल शब्दों का प्रयोग ग़लत होता है। उनका अनुवाद भी ग़लत होता है। बर्मा के मोर्चे पर जिस शब्द के लिए अनुवादक 'खन्दक' का प्रयोग करते हैं, उसके स्थान पर 'गन की चौकी' होना चाहिए, क्योंकि वहाँ खन्दक नाम की चीज़ नहीं। 'फ़ॉक्स होल' की जगह एक स्थल पर 'लूमड़ी की गुफा' अनुवाद हुआ है, हालाँकि यह सैनिकों ही की गुफा होती है। ऐसी बीसियों मिसालें अख़बारों में थीं। ब्रिगेडियर साहब ऐसे ग़लत अनुवाद पर बहुत लाल-पीले हुए और उन्होंने कहा कि

अख़बार के स्टाफ़ में कोई ऐसा फ़ौजी अफ़सर अवश्य होना चाहिए, जिसे फ्रंट का पूरा अनुभव हो। ब्रिगेडियर साहब की इस बात का सब अफ़सरों ने समर्थन किया और कहा कि वे तो स्वयं यही बात कहना चाहते थे और कर्नल चोपड़ा ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि नयी स्कीम के अधीन एक फ़ौजी अफ़सर अख़बार में ले लिया जाय।

मीटिंग के बाद जब ब्रिगेडियर साहब ने कैप्टन रशीद को अपने कमरे में बुलाया तो उन्होंने उनका परिचय एक सिख सूबेदार साहब से कराया, "अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर का होना ज़रूरी है।" उन्होंने कहा, "सूबेदार पुराने अफ़सर हैं, जंगी शब्दों से पूरी तरह परिचित हैं, इन्हें पंजाबी एडीशन का चार्ज दीजिए।"

और उन्होंने सूबेदार साहब को कैप्टन रशीद के साथ जाने की आज्ञा दी। एक फ़ौजी सलाम ठोंककर सूबेदार साहब कैप्टन रशीद के साथ हो लिये।

"बादशाहो, मैनूँ ताँ जर्नलिज़म-वर्नलिज़म दा कोई तजरबा नईं," कार में सूबेदार साहब कैप्टन रशीद की बग़ल में बैठे बता रहे थे, "मैं ब्रिगेडियर साब नाल बहुत पहले कम्म करदा रिहा हाँ, ते ओह मेरे ते बड़े मेहरबान ने। मैं उन्हाँ नूँ किहा सी कि साब मैनूँ कोई होर नौकरी दे दे। मैं कदीं अख़बाराँ दी शकल तक नईं डिट्ठी, कम्म करना ताँ दूर रिआ, लेकिन ब्रिगेडियर साब ने किहा, 'वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नेईं। मैं एडीटर नूँ आख दियाँगा कि ओह तैनूँ सिखा देवे। मैं चाहुँनाँ हाँ कि मिलिट्री दा इक आदमी अख़बार विच्च ज़रूर होवे, जिस नूँ बाकायदा लड़ाई दा तजरबा होवे।'"[1]

---

[1]—बादशाहो, मुझे जर्नलिज़्म आदि का कोई अनुभव नहीं। मैं बहुत पहले ब्रिगेडियर साहब के साथ काम करता रहा हूँ और वे मुझ पर बड़े कृपालु हैं। मैंने उनसे कहा था कि साहब मुझे कोई दूसरी नौकरी दे दो। मैंने कभी अख़बार की शक्ल तक नहीं देखी, उसमें काम करना तो दूर रहा। लेकिन

"आप किस फ़्रण्ट पर हो आये हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

और भोले-भाले सूबेदार साहब ने बताया :

"बाश्शाहो, कुत्ते दी मौत मरना होंदा ते एथे आवन दी की लोड़ सी? मैं बदकिस्मती नाल इंजीनियर कोर विच भरती हो गया सी, ते तजरबा मैनूँ कक्ख ना होया सी। साडी कोर कुछ दिनाँ तक बर्मा फ़्रण्ट जान वाली ऐ। मैं साब नूँ आखिया, 'भई जे मेहरबानी करनी एँ ते हुण कर। पिच्छे मेरे बाल अयाने ने ते उन्हाँ नूँ देखन वाला कोई नईं। जे असाँ फ़्रण्ट नूँ टुर गये ते, फ़ेर तेरी मेहरबानी किस दिन कम्म आऊ, साब मेरे ते खुश ऐ। मेरी हालत ते ओहनूँ तरस आ गिया ते ओस मैनूँ एथे घल्ल दित्ता। मैं कम्म सिखन दी पूरी कोशिश कराँगा। जे मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तग़में दी सिफ़ारिश करेगा।"[1]

दफ़्तर में जाकर मेज़ पर बैठते ही कैप्टन रशीद ने घण्टी पर हाथ मारा।

"पण्डित किरपाराम को सलाम दो!" उन्होंने चपरासी को आज्ञा दी।

ब्रिगेडियर साहब ने कहा, वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नहीं। मैं एडीटर से कह दूँगा कि वह तुझे सिखा दे। मैं चाहता हूँ कि फ़ौज का एक आदमी अख़बार में ज़रूर हो जिसको लड़ाई का बाकायदा तजरुबा हो।

१—बादशाहो, यदि (फ़्रण्ट पर) कुत्ते की मौत मरना होता, तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी। मैं दुर्भाग्यवश इंजीनियर-कोर में भरती हो गया था। और अनुभव मुझे तृण मात्र भी न हुआ था। हमारी कोर कुछ ही दिनों में बर्मा फ़्रण्ट पर जाने वाली है। मैंने साहब से कहा कि यदि कृपा करनी हो तो अब कर। मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं और मेरे सिवा उन्हें देखने वाला कोई नहीं। यदि हम फ़्रण्ट को ही चले गये तो तुम्हारी कृपा किस दिन काम आयेगी। साहब मुझ पर प्रसन्न है। मेरी स्थिति पर उसे तरस हो आया और उसने मुझे आप के साथ भेज दिया। मैं काम सीखने की पूरी कोशिश करूँगा, यदि मैं यहाँ सफल हो गया तो साहब ने मुझे वचन दिया है कि वह मेरे लिए तमग़े (पदक) की सिफ़ारिश करेगा।

लेकिन पण्डित जी स्वयं साहब को सलाम देने और हेड-आफ़िस का हाल-चाल पूछने आ रहे थे। मुस्कराते हुए उन्होंने साहब का हुक्म पूछा।

पिछले तीन महीने में पहली बार कैप्टन रशीद ने पण्डित जी की मुस्कान का उत्तर दिया। कुछ हकलाते हुए उन्होंने कहा, "सूबेदार साहब ब्रिगेडियर के आदमी हैं। ये गुरुमुखी के सब-एडीटर होंगे। ब्रिगेडियर साहब चाहते हैं कि अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर होना चाहिए। (यहाँ उन्होंने वे सब युक्तियाँ दोहरायीं जो ब्रिगेडियर ने मीटिंग में दी थीं) इसलिए गुरुमुखी के ट्रान्सलेटरों से कह दें कि वे इनकी मदद करें और कोई तकलीफ़ न दें।"

"अजी आप चिन्ता न करें, सब ठीक हो जायगा।" पण्डित जी ने आत्म-विश्वास से हँसते हुए कहा, "जब तक मैं हूँ, किसी अफ़सर को कोई कष्ट नहीं हो सकता। जिस तरह आप चाहते हैं, वैसा ही होगा।"

और जब वे सूबेदार साहब को साथ लिये हुए कैप्टन रशीद के कमरे से बाहर निकले तो उनके ओठों पर मुस्कराहट और भी फैल गयी।

उनके बाहर जाते ही कैप्टन रशीद ने फिर घण्टी पर हाथ मारा।

"लेफ़्टिनेण्ट अली को सलाम दो।"

लेफ़्टिनेण्ट के आने पर उन्होंने पूछा, "मेरा पैग़ाम मिल गया था?"

"जी!"

"इण्टरव्यू ले लिया?"

"हिन्दी और गुरुमुखी के उम्मीदवारों का इण्टरव्यू हो गया है। बाक़ी को आपके टेलीफ़ोन के मुताबिक़ कल आने के लिए कह दिया है।"

"आप उन्हें भी निबटा लेते। उम्मीदवारों का चुनाव तो लगभग हो गया है।"

"अँग्रेज़ी के लिए कौन आ रहा है?"

"डायरेक्टर-जनरल का कोई आदमी है। ब्रिगेडियर कह रहे थे, डायरेक्टर अँग्रेज़ी का असिस्टेण्ट बहुत लायक़ चाहते हैं, क्योंकि उसी से बाक़ी सब एडीशनों का पेट भरता है। शायद कोई आदमी हेड-आफ़िस से आये।"

"और उर्दू ?"

"उसके लिए भी चुनाव हो गया समझिए।"

यह कहकर उन्होंने फ़ाइल उठायी और काम में लग गये।

लेफ्टिनेण्ट अलीगुल ख़ां अपने कमरे में चले गये।

कैप्टन रशीद ने फ़ाइल अपने सामने रख तो ली, लेकिन हस्ताक्षर वे एक काग़ज पर भी न कर सके। फ़ाइल को एक ओर हटाकर और ट्यूनिक के कालरों को दोनों हाथों से पकड़े वे कमरे में घूमने लगे।

सात बज चुके थे। चपरासी ने झिझकते हुए भीतर कमरे में झाँककर देखा—कैप्टन रशीद उसी तरह ट्यूनिक के कालरों को थामे सिर झुकाये कमरे में चक्कर लगा रहे थे।

दूसरी सुबह जब पण्डित किरपाराम साहब को सलाम देने पहुँचे तो उन्होंने कैप्टन रशीद के बराबर की कुर्सी पर एक नवयुवक को बैठे देखा, "यह हैं मिस्टर हनीफ़—बी० ए० आनर्स," उसका परिचय देते हुए उन्होंने पण्डित जी से कहा, "ये उर्दू-सेक्शन का काम सम्हालेंगे।"

पण्डित जी ने खीसें निपोरते हुए मिस्टर हनीफ़ को सलाम किया और उन्हें साथ ले चले।

चलते समय कैप्टन रशीद के ये शब्द उनके कान में पड़े :

"ज़रा ट्रान्सलेटरों से कह दीजिएगा, इन्हें काम सीखने में मदद दें।"

●

दो आने की मिठाई

ख़ानबहादुर रहमत अली कमरे में दाख़िल हुए तो उनकी आँखें अंगारे उगल रही थीं। क्रोध के मारे उनका शरीर काँप रहा था और माथे पर बीसों तेवर पड़ गये थे। चीख़कर उन्होंने पुकारा, "अली !...ओ अली के बच्चे !"

अली उनके किशोर नौकर का नाम था। उनके लड़के मुन्नू ही की वयस का था। बर्तन मलता, पानी भरता, झाड़ू देता और घर के दूसरे बीसों काम करता। इस पर भी ख़ानबहादुर की 'कृपा-दृष्टि' उस पर बनी ही रहती।

"अली !" वे फिर चीख़े।

लेकिन अली कमरे में न था। वह साथ की एक कोठरी में झाड़ू दे रहा था। पुकार सुनते ही काँपता हुआ-सा सामने आ खड़ा हुआ। ख़ानबहादुर का रौद्र रूप देखते ही उसकी निगाहें धरती में गड़ गयीं और झाड़ू फ़र्श पर गिर गया।

"हरामज़ादे !" ख़ानबहादुर ने एक थप्पड़ उसके गाल पर जमाया, "वह गुलदान क्यों तोड़ा तूने ?"

इससे पहले कि वह कुछ उत्तर देता, ख़ानबहादुर के थप्पड़ से वह धम्म-से फ़र्श पर गिर पड़ा। सिर उसका फट गया, पर उस ओर ध्यान दिये बिना, अपने क्रोध की रौ में, ख़ानबहादुर उसे घसीटते हुए-से ड्राइंग-रूम में लाये। अँगीठी के नीचे फ़र्श पर शीशे का सुन्दर फूलदान टूटा पड़ा था। ईद के शुभ अवसर पर उनके एक पुराने मित्र ने विदेश से भेजा था और उनके सभी मित्रों ने उसकी प्रशंसा की थी। क्रोध से उन्होंने अली को उस पर पटक दिया। शीशे के टुकड़े ग़रीब के हाथों में चुभ गये। लेकिन दया के बदले दुगने क्रोध से उन्होंने उसे उठाया और गालियाँ देते हुए घर से बाहर कर दिया।

फूलदान को पाकर वे बड़े प्रसन्न हुए थे। उसकी सुन्दर कला के प्रदर्शनार्थ उन्होंने ईद के अवसर पर एक पार्टी भी दे डाली थी और अभी ईद की रात ख़त्म भी नहीं हुई कि फूलदान टूट गया। अभी तो न जाने कितने मित्रों को वे उसे दिखाना चाहते थे। जब उन्हें नौकरानी से पता चला कि शायद अली ने झाड़ू देते हुए तोड़ दिया है तो वे क्रोध से पागल हो उठे थे। नौकरानी को बुलाकर टूटे हुए फूलदान को उठा, जगह साफ़ करने का आदेश देकर वे ड्राइंग-रूम से बाहर निकल गये।

आँगन में उनका लड़का मुन्नू उसी फूलदान के पेंदे से ठैय्या-टापू खेल रहा था। ख़ानबहादुर को देखते ही सहसा चुप-सा खड़ा रह गया।

उसके हाथ से फूलदान का पेंदा लेकर अचानक ख़ानबहादुर ने पूछा, "तुमने तोड़ा है उसे मुन्नू?"

वह और भी सहम गया। धीरे-धीरे उसका मुँह बिगड़ा और फिर वह सहसा रो पड़ा।

फूलदान वास्तव में उसी से टूट गया था।

उसे रोते देख ख़ानबहादुर का सारा क्रोध हवा हो गया। आतुरता से बढ़कर उन्होंने उसे अपनी गोद में उठा लिया। पुचकारते हुए बोले, "रोते क्यों हो, हमीद चचा को हम लिखेंगे, मुन्नू के लिए एक गुलदान और भेज दो।"

उनकी आँखों में अंगारों के बदले कुछ विचित्र तरलता आ गयी, किन्तु उनके घर के बाहर बेचारा अली धूल में पड़ा रो रहा था। उसके घावों से रक्त बह रहा था और वह अपने हाथों से शीशे के नन्हें-नन्हें टुकड़े निकालने का विफल प्रयास कर रहा था।

"उस साले अली से कहो टें-टें बन्द करे!" ख़ानबहादुर ने ड्राइंग-रूम में जाकर नौकरानी से कहा और जेब से दो आने निकालकर उसकी ओर फेंकते हुए बोले, "यह दो आने उसे दो और कहो कि हमने उसे माफ़ कर दिया, चल के काम शुरू करे। दो आने की, बोलना, मिठाई खा ले।"

●